हिन्दू-धर्म के ज्ञान-मय क्रिया-पक्ष की शोध-पूर्ण प्रस्तुति

'कौल-कल्पतरु'

# चण्डी

(सं० १९९९ वि०-सन् १९४२ ई० से प्रकाशित)

## श्रीज्ञान-कलिका-स्तुति

( देखिए, पृष्ठ २२ )

भगवती के स्वाभाविक दयार्द्र होने की कथा सब जानते हैं। ऐसा निर्विवाद लक्षण होने से सबकी एक - मात्र आराध्या यही है। इसमें एक और भी आदेश है, जो अन्तर्गर्भ है। वह यह है कि 'शक्ति' की पूजा—परा अर्थात् श्रेष्ठ धर्मी-शक्ति के रूप में ही ठीक है। यह किसी और अर्थात् किसी शक्तिमान की शक्ति है, ऐसा समझ कर पूजन नहीं करना चाहिए। तात्पर्य कि अधिष्ठात्री 'शक्ति' की पूजा ही सर्व-श्रेष्ठ है। यह इसका अन्तस्तात्पर्य है।

शक्ति-मान् तो 'शक्ति' का अधिष्ठान है अर्थात् अव्यक्ता शक्ति इन्हीं शक्ति-मान् रूपी अधिष्ठानों द्वारा व्यक्त होती है। अतएव 'शक्ति' ही मूल पदार्थ है, ऐसा तात्पर्य है। 'शक्ति' का अस्तित्व अकेले अर्थात् पुरुष-अधिष्ठान के बिना भी है। पुरुष या शिष्य-रूपी अधिष्ठान का अस्तित्व अधिष्ठात्री शक्ति के बिना नहीं है।

भाद्र अंक ४-२० रु० : वार्षिक मूल्य ५०-०० रु०

# पुकार

• स्वामी शाश्वतानन्द 'सरस्वती'

पाप के पङ्क सन्यो लखि के सब, दूरहि ते निज अङ्क बचैहैं।
त्यों मल में लिपट्यो लखि के निज, नाक सिकोड़ सबै सुर लैहैं॥
मोह की धूलि लपेटि रखी तन को, निज अङ्क में न आवन दैहैं।
तो बिन को उमगाइ हियो निज, बाल दुलारि के गोद में लैहैं॥

रोइ न पायो कबौं जननी शिशु, प्रेम ते दौरि सँभारि लियो तू।
अङ्क लगाइ के नेह सों, नेह - मयी! छन में पुचकारि लियो तू॥
घाउ कुठाउँ को राखत ज्यों तनु - पोषक, त्यों अति प्यार कियो तू।
आजु दुलार को—प्यार-सँभार को काह कियो, जो बिसारि दियो तू॥

तारु, कि मारु, सँभारु, कि डारि दे, अङ्क ते, पे शिशु जाय कहाँ?
मां तजि ठौर कहाँ जग में, कहुँ तू हो दिखाइ दे होय जहाँ॥
तेरो हियो ही कठोर भयो, तब और अधार बताउ यहाँ।
मातु तज्यो रखिहैं कहु कौन, अनाथ दुखी शिशु जाय जहाँ॥

आरत - पालनि, दीन उधारनि, तू जननी जग जाहिर है।
तू करुणा प्रति - मूर्ति प्रत्यक्ष, दया - मयि तू सुखदा चिर है॥
आजु सुभावहिं भूलि गई, अथवा तव मानस अस्थिर है।
आरत है न अनाथ नहीं, शिशु तेरो किधौं जग बाहिर है॥

तू सुख - मूलनि, दुःखन की उन - मूलनि, माँ नित वेदन गाई।
तू प्रतिमा सुत - प्रेम को दिव्य, सदा सुत लालत - पालत माई॥
आश्रय में तव बालक को, कहु, कौन - सी आँच, कहाँ - कब आई।
आजु कहा भयो, हा, जगदम्ब! दया अपने शिशु पे बिसराई॥

घेरि लियो चहुँ हू दिसि ते, दुख - सङ्कट ठौर कहूँ नहि है, री!
पेरि दियो जिमि ईख निचोरि, न पे अजहूँ करुणा भइ तेरी॥
यो दुरदैव खरचो अजहूँ, डरपावत है, मत तू कर देरी।
भीत भयो शिशु रोवत है, करुणा - मयि माँ! करुणा कर दे री॥

देखि सकी न कबौं अज लौं शिशु - रोदन, आजु कहाँ गइ, ए, री!
आँसुन धार विलोकति है नहिं, काह भयो जननी प्रिय मेरी॥

( शेष आवरण-पृष्ठ ३ पर )

# कौल-कल्पतरु चण्डी

वर्ष ५० ] कार्तिक, 'तारण' सम्वत् २०४८ वि० : नवम्बर, १९९१ [ संख्या ८



१ हिमाचल प्रदेश के शक्ति-पीठ एवं देवी-मन्दिर : 'कुल-रत्न' श्री विपन महाजन, जालन्धर (पञ्जाब) १

२ श्रीज्ञान-कलिका-स्तुति : 'दरभङ्गा-राज-वंश-सम्भूत' श्री श्यामानन्दनाथ ९

३ आध्यात्मिक शोध : श्री जे० एल० भारद्वाज, श्री चामुण्डा-ज्योतिष-केन्द्र, अहमदाबाद (गुजरात) २४

४ शक्ति-उपासना की महानता : श्री राजेन्द्रलाल दास विशारद, सुपौल (बिहार) २५

५ शक्ति-कृपा का प्रत्यक्ष अनुभव : एक भक्त २९

६ माता महा-लक्ष्मी का अनुभूत मन्त्र : तन्त्राचार्य डा० विभूतिनाथ 'मधुप' द्विवेदी, दतिया (म.प्र.) ३२


# पर्यटन हेतु मार्ग-दर्शन

## हिमाचल प्रदेश के शक्ति-पीठ एवं देवी-मन्दिर


**'कुल-रत्न' श्री विपन महाजन, जालन्धर (पंजाब)**


### १. माँ बगलामुखी का प्राचीन मन्दिर, डेरा काँगड़ा मार्ग

हिमाञ्चल प्रदेश के शक्ति-पीठों के दर्शनार्थ कार द्वारा मैं विगत १९ अप्रैल, १९९१ के दिन सपरिवार यात्रा पर निकल पड़ा। जालन्धर से होशियारपुर होते हुए गङ्गरेट, भरवाई, डेरा, गोपीपुर मार्गों से जाते हुए हमने प्रथम विश्राम का अवसर **'माँ बगलामुखी'** के एक प्राचीन एवं गोपनीय मन्दिर में सुहावनी गोधूलि-बेला में प्राप्त किया। यह रम्य - स्थल वन-खण्डी क्षेत्र से आयातित **'डेरा - काँगड़ा मार्ग'** पर १८ किलोमीटर पर मुख्य-मार्ग पर ही स्थित है। मन्दिर के वर्तमान पाठाधीश श्री देवीदास गिरि जी हैं, जो उस समय उपस्थित नहीं थे। उनके साढू ने, जो 'कठुआ' के समीप **'श्री बाला त्रिपुरा'** के मन्दिर के पीठाधीश हैं, हमारा स्वागत किया और ठहरने की समुचित व्यवस्था भी कर दी।

सायं-काल स्नान आदि कर मैंने सपरिवार माँ के दर्शन हेतु मन्दिर में प्रवेश किया। भव्य प्रतिमा के दर्शन करते ही मैं माँ के श्री-चरणों में खो-सा गया। कुछ सचेत होकर मैंने माँ के ध्यान-श्लोक का पाठ करना प्रारम्भ किया—

**मध्ये सुधाब्धि-मणि-मण्डप-रत्न-वेद्यां, सिंहासनोपरि-गतां परि-पीत-वर्णाम्।**
**पीताम्बराऽऽभरण-माल्य-विभूषिताङ्गीं, देवीं नमामि धृत-मुद्गर-वैरि-जिह्वाम्॥**
**जिह्वाग्रमादाय करेण देवीं, वामेन शत्रून् परि - पीडयन्तीम्।**
**गदाऽभि - घातेन च दक्षिणेन, पीताम्बराढ्यां द्वि - भुजां नमामि॥**

इस प्रकार ध्यान-पाठ कर मैंने विधि-वत् पूजनादि किया। तदनन्तर मन्दिर के बाहर आकर एक वट-वृक्ष के नीचे, जो अत्यन्त प्राचीन है, बैठकर चारों ओर देखने लगा। ऐसा प्रतीत हुआ, मानों

वह क्षेत्र कितने ही साधुओं और साधकों की जीवित समाधियों से घिरा हुआ है। **भगवती बगलामुखी** का यह **पीठ - स्थल** कई सौ वर्षों से **गुप्त** ही रहा है। काँगड़े का राज - परिवार इसी मन्दिर में अपनी पूजा-अर्चना करता रहा। जन-साधारण को यहाँ पूजा करने की अनुमति नहीं थी। पूजा-गृह और देवी-मूर्ति की स्थापना काँगड़ा के प्रसिद्ध राजा संसारचन्द ने की थी। बाद में देवी की महिमा से प्रभावित होकर मन्दिर के बाहर का बरामदा मुगल-सम्राट् अकबर ने बनवाया था। बरामदे के गुम्बद मुगल शैली में ही निर्मित हैं।

मन्दिर के इतस्ततः बहुत-सी समाधियाँ हैं, जिनमें समय-समय पर नागा-संन्यासियों ने जीवित अवस्था में ही समाधि ली थी। कालान्तर में यह मन्दिर अत्यन्त जीर्ण-अवस्था में परिणत हो गया और आज भी खण्डहर-ही-खण्डहर दिखाई देते हैं। वर्तमान पीठाधीश श्री गिरि जी इस मन्दिर के जीर्णोद्धार हेतु प्रशंसनीय प्रयास कर रहे हैं। कोई-न-कोई निर्माण-कार्य होता ही रहता है।

मन्दिर के ठीक ऊपर, काँगड़ा मुख्य मार्ग पर 'बस-स्थान' है। **धर्म-शाला** या **काँगड़ा** जानेवाली प्रत्येक बस यहाँ रुकती है। पूर्व-काल में यहाँ देवी की पूजा **वाम-मार्ग** की विधि से होती थी, परन्तु वर्षों से उस विधि का पालन नहीं हो रहा है। हिमाचल-प्रदेश के प्रायः सभी **शक्ति - पीठों** की आज ऐसी ही स्थिति है। बलि-प्रथा अंग्रेजों के शासन-काल में तो प्रचलित थी, किन्तु वर्तमान-काल में वह भी स्थगित है। मन्दिर से कुछ नीचे एक अत्यन्त प्राचीन **शिव-लिङ्ग** के दर्शन होते हैं।

अगले दिन प्रातः ब्रह्म-वेला में नित्य - कर्म से निवृत्त होकर हमने माँ पीताम्बरा भगवती के दर्शन किए एवं **प्रातः-स्मरण स्तोत्र** द्वारा माँ से अग्रिम-यात्रा हेतु आज्ञा की प्रार्थना की—

**प्रातः - स्मरामि मधु - पूर्ण-सुधा - समुद्रं, तन्मध्य-दिव्य-मणि-द्वीप-मनोहरं च।**
**कल्पाटवीममित-रत्न-विभूष-कोटं, श्रीमण्डप - विशद - शोभि हृदि स्फुरन्तम्॥**
**प्रातर्नमामि मधु-सूदन-त्रीक्षणाब्जैः, नीराजितं द्युति - नतैः मुकुट - प्रदीपैः।**
**सौवर्ण - वर्णमतुलितं च पाद - पीठं, देव्या निवेदितं सदंघ्रि - द्वयं ललामम्॥**
**प्रातर्भजामि भव-भूरि-भयापहां तां, पीताम्बरां करौ सु-मुद्गरं वैरि-जिह्वाम्।**
**सु-स्तम्भिनीं सुवदनां करुणार्द्र-चित्तां, सृष्ट्युत्पत्ति-स्थिति -नियामिनीब्रह्मविद्याम्॥**

माँ को साष्टाङ्ग दण्ड-वत् प्रणाम कर रवि-पुष्य योग में यहाँ से प्रस्थान किया।

## २. श्री वज्रेश्वरी मन्दिर, नगरकोट, धर्मशाला-मार्ग

**माँ बगलामुखी मन्दिर** से १८ किलोमीटर दूरी पर **धर्मशाला-मार्ग** पर स्थित उक्त मन्दिर में हम प्रातः लगभग ६ बजे पहुँचे। इस स्थान को **'नगर-कोट'** भी कहते हैं। नगर - कोट - वासिनी देवी का नाम है–**श्री वज्रेश्वरी**। यह मन्दिर धरातल से काफी ऊँचाई पर होने से बड़ा सुहावना प्रतीत होता है। माँ का स्मरण करते हुए लगभग २०० सीढ़ियाँ चढ़कर हम माँ के पावन - स्थल पर पहुँचे। मन्दिर के बाहर लगे शिला - लेख के अनुसार **तन्त्र-चूड़ामणि** में वर्णित **'जालन्धर - पीठ'** यहीं है। यहीं दक्ष - यज्ञ-विनाशिनी माँ सती का बाँयाँ स्तन गिरा था। इस **पीठ** की अधिष्ठात्री देवी हैं—**द्वितीया महा - विद्या भगवती तारा जी**। मन्दिर के मुख्य द्वार पर प्रवेश करते ही दैत्य - निहन्त्री माँ तारा का दिव्य स्वरूप ध्यान में चित्रित होने लगा। मुख से स्वयमेव स्तुति-शब्द प्रस्फुटित हुए—

**घोर - रूपे ! महा - रावे ! सर्व - शत्रु-क्षयङ्करि ! भक्तेभ्यो वरदे देवि ! त्राहि मां शरणागतम् ।।**
**सुरासुरार्चिते देवि ! सिद्ध-गन्धर्व-सेविते ! जाड्य - पाप - हरे, देवि ! त्राहि मां शरणागतम् ।।**
**जटाजूट-समायुक्ते ! लोल-जिह्वे करालिनि ! द्रुत-बुद्धि-करे, देवि ! त्राहि मां शरणागतम् ।।**
**सौम्य-रूपे, घोर रूपे, चण्ड-रूपे ! नमोऽस्तु ते, सृष्टि-रूपे ! नमस्तुभ्यं, त्राहि मां शरणागतम् ।।**
**जडानां जडतां हंसि, भक्तानां भक्त - वत्सले ! मूढतां हर मे देवि ! त्राहि मां शरणागतम् ।।**
**हूं हूङ्कार-मये, देवि ! बलि - होम - प्रिये ! नमः, उग्र-तारे ! नमस्तुभ्यं, त्राहि मां शरणागतम् ।।**
**बुद्धि देहि, यशो देहि, कवित्वं देहि मे मातः ! कु - बुद्धि हर मे देवि ! त्राहि मां शरणागतम् ।।**
**इन्द्रादि-देव-वृन्देश-वन्दिते ! करुणा - मयि, तारे, ताराधि - नाथास्ये ! त्राहि मां शरणागतम् ।।**

इस प्रकार स्तुति कर, दण्ड-वत् प्रणाम कर, माँ का प्रसाद ग्रहण किया । ऐसा लगा, मानों माँ मुझे प्रत्यक्ष दर्शन देकर प्रसाद-रूप वर प्रदान कर रही हों ।

काँगड़ा का उक्त मन्दिर अत्यन्त प्राचीन है । ऐतिहासिक दृष्टि से शारदा - लिपि में लिखित शिला-लेख द्रष्टव्य है । १०१९ में महमूद गजनवी ने मन्दिर को नष्ट-प्राय कर दिया था, करोड़ों मूल्य के हीरे, स्वर्णाभूषण आदि लूट ले गया था । बाद में काँगड़ा-नरेशों ने जीर्णोद्धार करवाया । **'जालन्धर-पीठ'** नाम से प्रख्यात इस माँ वज्रेश्वरी-मन्दिर में 'नवरात्रि' एवं 'मकर-संक्रान्ति' पर विशेष महोत्सवों का आयोजन होता है । पुराणों के अनुसार दैत्यों द्वारा माँ वज्रेश्वरी ने देवताओं की पराजय होने पर विकराल रूप में प्रकट होकर दुर्दान्त दैत्यों का दर्प दलित किया और देवों को अभय - दान दिया । उस समय देवताओं ने माँ के कोमल वदन पर लगी चोटों पर गौ-घृत का लेप किया था । उसी परम्परा के अनुरूप आज भी 'मकर-संक्राति' के अवसर पर पाँच मन देशी घी को एक सौ एक बार शीतल जल में प्रक्षालित कर मक्खन तैयार किया जाता है । सु-मधुर सेवों एवं उत्तम फलों तथा सुगन्धित द्रव्यों द्वारा उसे सुवासित किया जाता है । एक सप्ताह तक पूजन-अर्चन-पूर्वक माँ भगवती को वही दिव्य मक्खन समर्पित किया जाता है ।

माँ वज्रेश्वरी की प्रातः - कालीन वेला की आरती अपूर्व शान्ति - प्रदायिनी होती है । सायं-कालीन शयन-आरती में माँ वज्रेश्वरी साक्षात् दर्शन देती हुई भक्तों को चतुर्विध वर प्रदान करती प्रतीत होती हैं । मातृ-भक्ति से विह्वल होकर मैं गद्-गद कण्ठ से निम्न स्तुति का पाठ करने लगा--

**सुधा-सिन्धोर्मध्ये सुर-बिटपि-वाटी-परिवृते, मणि-द्वीपे नीपोपवन - वति चिन्ता-मणि-गृहे ।**
**शिवाकारे मञ्चे परम-शिव-पर्य्यङ्क-निलयां, भजन्ते त्वां धन्यः कतिचन-चिदानन्द-लहरीम् ।।**
**जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्रा-विरचनं, गतिः प्रादक्षिण्यं भ्रमणमशनाद्याहुति - विधिः ।**
**प्रणामः सम्वेशः सुखमखिलमात्मार्पण - दशा, सपर्या पर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ।।**
**सुधामप्यास्वाद्य प्रति-भय-जरा-मृत्यु-हरणीं, विपद्यन्ते विश्वे विधि-शत-मखाद्यादि-विषदः ।**
**करालं यत् क्ष्वेडं कवलित-वतः काल-कलना, न शम्भोस्तन्मूलं जननि ! तव ताटङ्क-महिमा ।।**
**दृशा द्राघीयस्या दर-दलित-नीलाम्बुज-रुचा, दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे !**
**अनेनायं धन्यो भवति न च ते हानिरियता, वने वा हर्म्ये वा सम-निकर-पातो हिम - करः ।।**

इस प्रकार स्तुति कर मैंने आगे यात्रा करने की अनुमति माँ वज्रेश्वरी से माँगी और वहाँ से प्रस्थान किया । मार्ग में बच्चों ने 'दूर - दर्शन' की धारावाहिक **'रामायण'** देखने की इच्छा व्यक्त की । मैंने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि 'माँ भगवती की कृपा होगी, तो अवश्य ही कहीं देखेंगे ।' हुआ भी

वैसा ही ! भगवती चामुण्डा देवी के दर्शन हेतु जाते समय मार्ग में एक वस्त्र - विक्रता की दूकान पर **'रामायण'** को देखने का अवसर मिल गया। बच्चों की इच्छा पूरी हो गई और हम सब भी **'यं यं काम-यते, तं तं प्राप्नोति निश्चितं'** उक्ति को स्मरण कर कृतार्थ हुए। इस प्रकार आनन्द-पूर्वक चण्ड-मुण्ड-वध-कारिणी माँ भगवती चामुण्डा के घोर - तम एवं रहस्य - पूर्ण मन्दिर पर हम लगभग साढ़े दस बजे पहुँच गए।

## ३. भगवती चामुण्डा मन्दिर, पालमपुर मार्ग

काँगड़ा से १८ कि०मी० पर 'पालमपुर मार्ग' पर ४ कि०मी० भीतर की ओर चलकर गहरी घाटी में उक्त मन्दिर स्थित है। समीप ही **'बाण-गङ्गा'** की धारा कल-कल कर बह रही है, जिससे बना हुआ एक मनोरम एवं विलक्षण सरोवर है। इस सरोवर में भिन्न - भिन्न प्रकार की पशुओं आदि की मूर्तियाँ चित्रित हैं, जो रात्रि में विचित्र एव सजीव-सी लगती हैं।

माँ चामुण्डा के प्राङ्गण में प्रवेश करते ही मुझे प्रतीत हुआ कि मानों माँ साक्षात् स्वरूप में वहाँ विचरण कर रही हों। श्रीचरणों में मैंने साष्टाङ्ग प्रणाम किया एवं मेरे मुख से स्वयमेव स्तुति प्रस्फुटित हो उठी--

**ॐ शूलं कृपाणं नृ - शिरः, कपालं दधतीं करैः। मुण्ड - स्रग् - मण्डिता ध्याये चामुण्डां रक्त - विग्रहाम् ।।**
**योगाढ्यामर-कार्य-निर्गत-महत्-तेज-समुत्पत्तिनी। भास्वत्-पूर्ण-शशाङ्क-चारु-वदना नीलोल्लसद्-भ्रू-लता ।।**
**गौरोत्तुङ्ग-कुच-द्वया तदुपरि स्फूर्जत्-प्रभा-मण्डला। बन्धूकारुण-काञ्च-कान्तिरवताच्छ्रीचण्डिका तु सर्वतः।**

इसके बाद **'बाण - गङ्गा'** की पवित्र - धारा में स्नान करके मैंने अपने को कृतार्थ किया। इस पावन सरिता के विषय में प्रसिद्ध है कि इसमें स्नान करने से सर्व-तीर्थों के स्नान का पुण्य होता है।

मन्दिर के नीचे गिरि-कन्दरा में **भगवान् नन्दिकेश्वर महा - देव** के दर्शन प्राप्त होते हैं। माँ चामुण्डा का यह दिव्य क्षेत्र शाक्त-पीठों में मुख्य है। प्रमुख मन्दिर वर्तमान मन्दिर से उत्तर की ओर १६ किमी० ऊपर **'चन्द्र-घाट'** पर्वत पर दो सहस्र मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। इसका जीर्णोद्धार वर्तमान प्रबन्ध-कारिणी समिति द्वारा सम्पन्न हुआ है। प्रतिष्ठित मूर्ति के विषय में किंवदन्ती है कि वर्षों पूर्व माँ चामुण्डा ने अपने किसी अनन्य भक्त को स्वप्न में यह आदेश दिया : **'मेरी प्राकृतिक शिला - मूर्ति बाण-गङ्गा में अदृश्य है। उसे यहाँ लाकर प्रतिष्ठित कर दिया जाय।'** तदनुसार ही भक्त को मूर्ति प्राप्त हो गई। उसे लाकर उसने वर्तमान स्थान पर **भगवान् नन्दिकेश्वर मन्दिर के ठीक ऊपर**, प्राण-प्रतिष्ठा-पूर्वक स्थापित किया। उस अवसर पर 'भगवती जागरण' हुआ और सोत्साह भक्तों द्वारा महान् उत्सव मनाया गया। **माँ चामुण्डा** के प्रादुर्भाव के विषय में 'सप्तशती' के सातवें अध्याय की देवी - सूक्ति सर्व-विदित है—

**तावानीतौ ततो दृष्ट्वा, चण्ड-मुण्डौ महा-सुरौ। उवाच कालीं कल्याणी ललितं चण्डिका वचः ।।**
**'यस्माच्चण्डं च मुण्डं च, गृहीत्वा त्वमुपागता। चामुण्डेति ततो लोके, ख्याता देवि ! भविष्यसि ।।'**

मन्दिर में प्रातः - कालीन आरती विशेष आनन्द एवं शान्ति प्रदान करती है। सायं - कालीन आरती का समापन श्रीमद् शङ्कराचार्य द्वारा रचित 'देव्यपराध-क्षमापण-स्तोत्र' द्वारा होता है। सम्पूर्ण आयोजन वाद्य-यन्त्रों के सङ्गीत-सहित स्वर-सङ्गम-युक्त सम्पन्न करते हैं। उस अपूर्व सत्सङ्ग का वर्णन शब्दों में करना मेरे सामर्थ्य से परे है।

अब माँ चामुण्डा से अग्रिम यात्रा हेतु प्रार्थना एवं आज्ञा लेकर मैंने माँ ज्वालामुखी की ओर प्रस्थान किया।

## ४. माँ ज्वाला-मुखी

काँगड़ा की ओर **'रानी-ताल'** से १८ किमी० के अन्तराल में उक्त लोक - प्रख्यात दिव्य **'शक्ति-पीठ'** विद्यमान है। 'तन्त्र - चूड़ामणि' के अनुसार इस पोठ की अधिष्ठात्री देवी **'अम्बिका'** और भैरव **'उन्मत्त'** हैं। यहाँ देवी सती की 'महा-जिह्वा' गिरी थी। हम लोग, बिना विश्राम किए, लगातार चल कर दोपहर ढाई बजे इस पवित्र धाम पर पहुँचे और माँ के पावन दर्शन पाकर सब प्रकार से अपने को धन्य माना।

**'माँ ज्वाला-मुखी जी'** का यह पावन धाम अत्यन्त घोर - तम एवं रहस्य - पूर्ण है। मन्दिर के आन्तरिक भाग में एक स्वयं-प्रकाशमान दिव्य ज्योति-पुञ्ज शिखा-सदृश देदीप्यमान हो रही है। मन्दिर के अन्य स्थानों पर--दीवारों आदि पर भी अनेक ज्योतियाँ दिखाई देती हैं। मैंने सर्व - प्रथम प्रमुख ज्योति - स्वरूपा माँ ज्वाला - मुखी की विधि - वत् पूजा एवं स्तुति की। तब अन्य ज्योतियों की पूजा-वन्दना की।

यह पवित्र पीठ-स्थल दस महा-विद्याओं में **माँ श्री धूमावती** का सिद्ध विग्रह माना जाता है। अतः मैंने माँ धूमावती का स्तवन निम्न प्रकार किया :

**ध्यायेत् कालाभ्र-नीलां विकलित-वदनां काक - नासां विकर्णाम्,**
**सम्मार्जन्युल्क-शूर्पैर्युत-मुसल - करां वक्र - दन्तां विपास्याम् ॥**
**ज्येष्ठां निर्वाण - वेषां भ्रकुटित - नयनां मुक्ति - केशीमुदाराम्,**
**शुष्क-तुङ्गाति-तिर्यक्-स्तन-भर-युगलां निष्कृपां शत्रु-हन्त्रीम् ॥**

मैंने माँ से प्रार्थना की कि 'हे माँ ! तेरा यह विकराल-रूप जन-साधारण को भ्रमित करता रहा है। मुझे सांसारिक भोग-विलासादि की कोई लालसा नहीं है। हे माँ ! आप अपने 'भव-तारिणी'-नाम को सार्थक करते हुए इस तुच्छ बालक पर एक विन्दु - मात्र मोक्ष-कृपा-दृष्टि कर दो, जिससे मैं मूढ़ इस जगत् के आवागमन-रूप भव-सागर से मुक्त हो जाऊँ।' मेरी इस आर्त - प्रार्थना को सुनकर प्रायः सभी ज्योति-पुञ्जों का दिव्य प्रकाश तेज चमक के साथ माँ महा-घोरा में विलीन-सा हो गया। मुझे विश्वास हो गया कि माँ ने मेरी प्रार्थना सुन ली है। मैं आत्म-विभोर हो माँ की स्तुति में उच्चारण कर उठा--

**सर्व - काम - प्रदां देवीं सर्वारिष्ट - विनाशिनीम्,**
**सर्व - स्वरूपां सर्वाढ्यां वन्दे ज्वाला - मुखीमहम् ॥१**
**सतत - प्रज्वल - ज्वालां जटिलावयवोज्ज्वलाम्,**
**अभङ्ग - मङ्गलां देवीं वन्दे ज्वाला - मुखीमहम् ॥२**
**यन्मन्दिरैक - पार्श्वस्थ कासार - श्रीर्मनोहराम्,**
**तनोति नयनानन्दं ज्वालामहमानतः ॥३**
**यन्मन्दिरान्य - पार्श्वस्थो महा - देवोऽम्बिकेश्वरः,**
**भक्तान् नूनं पाति सा ज्वाला-मुखी देवी ददातु शम् ॥४**
**यन्मन्दिरं समीपे श्रीनागार्जुन - शिवः स्वयम्,**

**सा वसति तां देवीं नौमि ज्वाला - मुखीमहम् ।।५**

**यत् - कृपा - लव - मात्रेण भूसुराः भासुरा सुरान्,**
**जयन्ति सततं सन्तः सा ज्वाला पातु मां सदा ।।६**

उक्त दिव्य-ज्योति-मय मन्दिर की विभिन्न ज्योतियों की महिमा का वर्णन करना यहाँ सर्वथा उचित होगा क्योंकि प्रत्येक **'ज्योति'** का अपना माहात्म्य है । यथा—

**प्रथम-ज्योति**——मन्दिर के मुख्य द्वार के सामने चाँदी के जाले में प्रमुख ज्योति सुशोभित है । यह भुक्ति-मुक्ति-प्रदात्री 'महा-काली' रूप है ।

**द्वितीय-ज्योति**——'महा-काल' ज्योति के नीचे ऐश्वर्य-दात्री महा-माया 'अन्न-पूर्णा' ज्योति है ।

**तृतीय-ज्योति**——दूसरी ओर शत्रु-विनाशिनी 'माँ चण्डी' ज्योति है ।

**चतुर्थ-ज्योति**——व्याधि-नाशिनी 'हिङ्गलाज भवानी' ज्योति है ।

**पञ्चम-ज्योति**——शोक-निवारिणी 'विन्ध्य-वासिनी' ज्योति है ।

**षष्ठ-ज्योति**—ऐश्वर्य-दात्री 'महा-लक्ष्मी' ज्योति कुण्ड में विराजमान है ।

**सप्तम-ज्योति**——कुण्ड में ही विद्या-दात्री 'सरस्वती' ज्योति विराजमान है ।

**अष्टम-ज्योति**——सन्तान-दात्री 'अम्बिका' ज्योति भी कुण्ड में स्थित है ।

**नवम-ज्योति**——कुण्ड में ही आयु-सुख-दात्री 'अञ्जना' ज्योति भी विराजमान है ।

कुछ ऊँचाई पर एक गुफा है, जो **'गोरख-डिब्बी'** नाम से प्रसिद्ध है । इस गुफा में 'नाथ - सम्प्रदाय' का मण्डल निवास करता है । वहाँ एक नाथ-योगी उबलते जल में, जो **'हाथ लगने पर ठण्डा ही लगता है'**, अग्नि प्रज्वलित करते हैं । मेरी प्रार्थना पर प्रमुख नाथ बाबा जी ने आशीर्वाद - स्वरूप मेरी पीठ पर एक जोर से थपकी दी और बच्चों को चिरञ्जीवी होने का सस्वर आशीष प्रदान किया । मैंने 'नाथ-मण्डल' को नत-मस्तक हो प्रणाम किया और अपने को कृतार्थ माना ।

**'गोरख-डिब्बी'** का भी अपना एक विचित्र इतिहास है । यहाँ गुरु गोरखनाथ जी ने अनेक वर्षों तक तपस्या की थी । इसी स्थान पर वे अपने शिष्य **'सिद्ध नागार्जुन'** के पास अपनी **'डिब्बी'** (खिचड़ी की जल-भरी बटलोई) रखकर खिचड़ी माँगने गए थे, परन्तु खिचड़ी लेकर वापस नहीं लौटे और न ही 'डिब्बी' का जल गर्म हुआ । तभी से इस स्थान का नाम **'गोरख-डिब्बी'** पड़ गया ।

तत्पश्चात् मैंने मन्दिर के प्राङ्गण में ही एक कोण में सामान्य विधि से 'हवन' किया क्योंकि **'माँ श्री ज्वाला'** जी के स्थान में 'हवन' का बड़ा महत्त्व है । मैं हवन-सामग्री इत्यादि घर से ही ले गया था । अतः मैंने हवन का कार्य सन्तोष-जनक ढँग से पूर्ण किया । 'जालन्धर-माहात्म्य' के अनुसार 'हवन-महिमा' निम्न प्रकार है—

**ज्वाला - मुख्यां सप्त-होमः कर्तव्यः साधकेन तु, तदाऽस्माकं तृप्तिरेव भाव्याः इत्थं निरन्तरम् ।**
**देवोऽभिचिन्त्यते दक्ष ! सर्व-पूज्या च मत्-प्रिया, यतस्तस्मात् सदा कार्यो होमो नात्र विचारणा ।।**
**होमे यस्मिन् सामर्थ्यमस्ति तेनापि भक्तितस्तु, ज्वाला-मुख्यां प्रहोतव्या भृशमाहुतयो दशः ।**
**अन्यत्र लक्ष-होमेन यत्-फलं समावाप्यते, ज्वाला - मुख्यां तुतद् विधि-वद् दशाहुति - होमतः ।।**

हिमाचल सरकार द्वारा नियुक्त मन्दिर की 'समिति' द्वारा **'पञ्च-आरती'** का आयोजन किया जाता है, जो विभिन्न वाद्य - यन्त्रों के सङ्गीत से युक्त होकर भक्तों के लिए बड़ी आनन्द - दायक होती है ।

**'प्रथम आरती'** ब्राह्म-मुहूर्त में होती है जिसमें माल-पुआ, खोए एवं मिश्री का भोग लगता है। **'द्वितीय मङ्गल आरती'** एक घण्टे पश्चात् होती है। इसमें पोले चावल एवं दही का नैवेद्य लगता है। **'तृतीय मध्याह्न-काल की आरती'** में चावल, षट्रस, दाल एवं मिष्ठान्न का भोग लगताहै। **'चतुर्थ गोधूलि-बेला की आरती'** में पूड़ी, चना-हलुआ का भोग लगता है। **'पञ्चम शयन-आरती'** १० बजे रात्रि में होती है। इसमें दूध, मलाई एवं ऋतु-फल के भोग द्वारा समापन होता है। यह **'शयन-आरती'** श्रीशङ्कराचार्य-विरचित 'सौन्दर्य-लहरी' के स्तोत्र द्वारा पीठाधीश स्वयं सम्पन्न कराते हैं।

मन्दिर के समीप अनेक दर्शनीय स्थल हैं। मैंने उन सभी का दर्शन कर जीवन कृतार्थ किया। ये स्थल निम्न प्रकारहैं--

**१ काली भैरव मन्दिर, २ शिव-शक्ति, ३ लाल शिवालय, ४ अम्बिकेश्वर महादेव, ५ टेढ़ा मन्दिर, ६ सिद्ध नागार्जुन एवं ७ उन्मत्त भैरव जी का अनूठा मन्दिर।**

## ५ अष्टादश-भुजी देवी का मन्दिर

उक्त मन्दिर श्री ज्वालामुखी जी के मुख्य मन्दिर से एक मील की दूरी पर पश्चिम की ओर स्थित है। समीप ही एक श्मशान है, जो किसी समय **'अखण्ड श्मशान'** था। श्मशान से लगा हुआ एक विशाल जलाशय है, जिसमें अनवरत स्नान करने से श्वेत - कुष्ठ रोग का निवारण होता है—ऐसी प्रसिद्धि है।

माँ धूमावती के श्रीचरणों में प्रणाम कर अग्रिम यात्रा की अनुमति लेकर मैं **'माँ चिन्तापूर्णी'** (चिन्त्यपूर्णी) के श्रीचरणों में उपस्थित होने के लिए आगे बढ़ा।

## ६ माँ चिन्त्यपूर्णी का मन्दिर

श्री ज्वाला-मुखी से डेरा, भरवाई एवं ३ किमी० के अन्दर की ओर समुद्र-तल से ३३०० फीट की ऊँचाई पर **माँ छिन्नमस्ता भगवती** का उक्त प्रसिद्ध 'तीर्थ-पीठ' स्थित है। पर्यटन-काल में निरन्तर मेरे ध्यान में 'श्री देवी भागवत' महा-पुराण की निम्न पंक्तियाँ उभरती रहीं—

**तामग्नि-वर्णां तपसा ज्वलन्तीं, वैरोचिनीं कर्म-फलेषु जुष्टां, दुर्गा-देवीं शरणमहं प्रपद्ये, सुतरां नाशयते तमः।**

'श्री भैरव-तन्त्र' में भी कहा है—

**प्रचण्ड-चण्डिकां वक्ष्ये, सर्व-काम-फल-प्रदाम्, यस्याः स्मरण-मात्रेण सदा-शिवो भवेन्नरः।**
**अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनवान् भवेत्, कवित्वं दीर्घ - पाण्डित्यं लभेत् नात्र संशयः॥**

भगवान् भास्कर के अस्ताचल पहुँचते-पहुँचते मैं भी लगभग ६ बजे उक्त पावन-स्थल पर पहुँच गया। अति प्रसिद्ध एवं पर्यटकों का दर्शनीय स्थल होने के कारण भोजनालय एवं आवासीय सुविधा हेतु यहाँ धर्मशालाओं की अधिकता है। मैंने मुख्य सड़क पर ही **'लुधियाना धर्मशाला'** में एक कमरा लिया। मार्ग-श्रम-निवारण एवं शरीर-शुद्धि हेतु स्नानादि कर हम लोग माँ की दर्शनाभिलाषा से चल दिए। बाजार की अपूर्व छटा का आनन्द लेते हुए हम १२० सीढ़ियाँ पार कर माँ छिन्नमस्ता के पवित्र मन्दिर में जा पहुँचे। मन्दिर में प्रतिमा के स्थान पर मात्र एक **'पिण्डी'** प्रतिष्ठित है। दस महा - विद्याओं में से **भगवती छिन्नमस्ता** का यह दिव्य स्थल प्रसिद्ध है। माँ छिन्नमस्ता को साष्टाङ्ग प्रणाम कर मैंने प्रार्थना की—

**'हे मोक्ष-प्रदायिनि, दया-मयी माँ, छिन्नमस्ते! अपने सिर का छेदन कर, तुम अपनी सहचरियों की क्षधा-पिपासा शान्त करती रही हो। अतः हे माँ! अपनी तीसरी धारा में से, जिसका तुम स्वयं पान**

**करती हो, मात्र एक विन्दु इस अबोध एवं मूढ़ बालक के मुख में भी गिरा दो, जो इसकी 'रुद्र-ग्रन्थि' को मुक्त कर इसे जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा दिला दे।'**

मन्दिर का प्राङ्गण रात्रि में अत्यन्त मन-मोहक प्रतीत होता है। एक अत्यन्त प्राचीन वट-वृक्ष पूरे मन्दिर को आच्छादित किए है। भक्त-गण उसकी शाखाओं पर अपनी लौकिक कामनाओं की पूर्ति हेतु 'मौली' बाँधते हैं। मनोकामना के पूर्ण होने पर वे पुनः उपस्थित होते हैं और गाँठ खोलकर माँ की यश-गाथा के साथ उत्सव मनाते हैं।

मन्दिर के निकट एक रम्य सरोवर है, जिसका जल अत्यन्त चमत्कार - पूर्ण है। हिमाचल-सरकार द्वारा उसे पक्का बनवा दिया गया है। इसी सरोवर के पवित्र-जल से **'माता की पिण्डी'** का अभिषेक किया जाता है। माँ की सायं - कालीन आरती ८ बजे होती है। घण्टा, वाद्य-यन्त्रों एवं जय-कार की ध्वनि से वातावरण गुञ्जित हो उठता है। मन्दिर के पीठाधीश द्वारा गाई जानेवाली स्तुति अति मन-मोहक एवं सुहावनी होती है--

**नमस्ते शरण्ये शिवे सानुकम्पे, नमस्ते जगद् - व्यापिके चित्-स्वरूपे !**
**त्वमेकाजिता राजिताऽसि त्रिलोके, सुजाताऽजिरा क्रोधना क्रोध-निष्ठा ।।**
**इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्णास्त्वं हि नाड़ी, नमस्ते शरण्ये शिवे सानुकम्पे !**
**नमो देवि दुर्गे, शिवे, भीम-नादे, सरस्वत्यरुन्धत्यमोघ - स्वरूपे !**
**विभूतिः सती काल-रात्रिः शिवा त्वं, नमस्ते शरण्ये शिवे सानुकम्पे !**
**शरणमसि सुराणां सिद्ध-विद्याधराणां, मुनि-दनुज-नराणां व्याधिभिः पीडितानां ।**
**नृपति-गृह-गतानां दस्युभिः त्रासितानां, त्वमसि शरणमेयेका देवि, दुर्गे ! प्रसीद ।**

आरती के पश्चात् प्रसाद ग्रहण कर हम लोग वापस लौटे। मार्ग में भोजन प्राप्त करने के बाद धर्मशाला में आकर रात्रि-विश्राम किया। अगले दिन प्रातः नित्य-कर्म से निवृत्त होकर हम लोग ३ किमी० दूर **'शीतला-माता'** का दर्शन करने के लिए गए।

## ७ शीतला माता का मन्दिर

१२ वीं शती में महमूद गजनवी ने **'माँ चिन्त्यपूर्णी'** के मन्दिर पर आक्रमण कर उसे क्षति-ग्रस्त कर दिया था। उस घटना के वर्षों बाद, अब से लगभग ३० वर्ष पूर्व निकट के ही एक गाँव में एक व्यक्ति को माँ ने स्वप्नावस्था में दर्शन देकर सूचित किया कि अमुक स्थान पर उक्त मन्दिर की उपास्या शक्ति पृथ्वी में **'पिण्डी'** रूप में सन्निहित है। प्रातःकाल होते ही व्यक्ति ने जाकर उस स्थान पर खुदाई की। वहाँ शान्ति-प्रदायिनी माँ की ढाई फीट की **'पिण्डी'** प्राप्त हुई। उसी खोदे हुए स्थान पर **'मां शीतला देवी'** का उक्त भव्य मन्दिर निर्मित किया गया। इस मन्दिर में पहुँचने के लिए ५० सीढ़ियों को चढ़कर ऊँचाई पर जाना होता है। वर्तमान समय में उक्त मन्दिर का जीर्णोद्धार हो रहा है।

माँ शीतला देवी के दर्शनों से तृप्त होकर हम वापस आए और **'माँ चिन्त्यपूर्णी'** के श्रीचरणों में जाकर पुनः साष्टाङ्ग प्रणाम कर माँ का आशीर्वाद प्राप्त किया।

निस्सन्देह, माँ की ही अहैतुकी कृपा के प्रभाव से मुझ जैसे अज्ञानी और अकिञ्चन को हिमाञ्चल प्रदेश के उक्त दिव्य शक्ति-पीठों एवं देवी-मन्दिरों के परम पावन दर्शनों का सुअवसर प्राप्त हुआ।

# श्रीज्ञान-कलिका-स्तुति

टीका एवं व्याख्या-कार : 'दरभङ्गा-राज-वंश-सम्भूत' श्री श्यामानन्दनाथ

ॐ शिवे देवि ! सम्वित् सुधा - सागरात्म - स्वरूपाऽसि सर्वान्तरात्मैक-रूपा ।
न किञ्चिद् विना त्वत्-कलामस्ति लोके, ततः सत् - स्वरूपाऽसि सत्यऽप्यसत्ये ।।१।।

टीका—**हे शिवे ! तुम ज्ञान-रूपी अमृतार्णवा प्राण-स्वरूपा हो, सबकी अन्तरात्मा-रूपिणी हो । इस विश्व में तुम्हारी 'कला' अर्थात् 'शक्ति' से रहित कोई पदार्थ नहीं है । हे देवि ! इसी से तुम सत्य और असत्य पदार्थों में भी सद्-रूपिणी हो ।**

**व्याख्या**—'**देवी**' शब्द से उस परमा सत्तावाली या धर्मी शक्ति का बोध होता है, जो परं-ज्योति-रूपिणी मूला प्रकाश महा-शक्ति अर्थात् अपरिणामिनी नित्य सत्ता है । जब इसका अर्थ लीला-मयी होता है । तब इससे विषम परिणामिनी सत्ता का बोध होता है, जहाँ यह परा सम्वित् अनुपहित चेतना-रूपिणी है, वहीं यह उपहित चेतना भी है । इसमें पदार्थ - भेद नहीं है, मात्र अवस्था - भेद है । नित्या सत्ता तीन प्रकार की है—१ अपरिणामिनी, २ सम-परिणामिनी और ३ विषम परिणामिनी । प्रथम शुद्ध चित्-स्वरूपा है, दूसरी अचित्-स्वरूपा और तीसरी उभय-स्वरूपा है, जिसे चिदचिद् ब्रह्म कहते हैं । तीसरा रूप नीर-क्षीर-सदृश संयोग-सम्बन्ध से एक रूप में संगृहीत है । यह सम्बन्ध नित्य-संयोग-वादियों के मत से 'वियुद्-वय संयोग' कहलाता है । '**देवी**'-शब्द से अन्तर्प्रेरिका शक्ति का भी बोध होता है । 'गीता' के मत से यही ईश्वरी या ब्रह्म है, जो सभी जीवों में रहकर सूत्र-धार का काम करता हुआ जीवों को नचाता रहता है ।

यहाँ शङ्का यह उठती है कि इस प्रकार भ्रमित करनेवाली को '**शिवा**' क्यों कहें ? '**शिवा**' नाम मङ्गला का है और भ्रम अवांछनीय है, परन्तु नहीं—यह विश्व-भ्रमण-कारिणी या भव-चक्र-प्रवर्तिनी ही मुक्ति-दायिनी है । सामान्य बुद्धि से भी जाना जा सकता है कि बिना 'प्रवृत्ति' के यथार्थ 'निवृत्ति' या त्याग का भाव नहीं आ सकता । यह 'प्रवृत्ति' की प्रतिक्रिया ही है, जो 'निवृत्ति' ले आती है । इस प्रकार यह '**देवी**' पर - मङ्गल-दायिनी है, इसमें सन्देह नहीं । '**शिवा**' का एक अर्थ कान्ति अर्थात् इच्छा है । यह इच्छा दो प्रकार की है—१ पर-इच्छा मुक्ति-दायिनी है और २ अपर-इच्छा बन्धन का कारण है । इसी से परेच्छा-रूपिणी '**शिवा**' का अर्थ है 'शिव' अर्थात् 'मोक्ष' को देनेवाली ।

'**सम्वित्**' का अर्थ है ज्ञान, जो महा-चिति का द्योतक है, वैसे तो सम्विद्-भाव प्रत्येक तन्मात्रा के ज्ञान से उत्पन्न होता है, जैसे मन की तादृक् गुण-ग्राहकता से 'रस' की तन्मात्राओं के ज्ञान से जल-सम्वित् का भाव और 'गन्ध' की तन्मात्रा के सम्वेदन से भूमि-सम्वित् का भाव है, परन्तु यहाँ सामान्य ज्ञान अर्थात् जड़-सम्वित्ति का परिचायक 'सम्वित्' शब्द नहीं है । इससे स्वयं-प्रभा निर्विकल्पा सम्वित् का ही बोध होता है । यही मूल सृजन-शक्ति है, जिसे 'योग-वाशिष्ठ' के शब्दों में 'प्रवर्धन-सम्वित्' कहते हैं । यही है स्थिति या पालिका शक्ति और यही लय-कारिणी या संहार-शक्ति भी है । बहिर्मुखी अवस्था में आदि-द्वय और अन्तर्मुखी अवस्था में अन्तिम है ।

यही जब अनिर्वाच्या होती है, तब इसे 'पर-सम्वित्' कहते हैं। निष्कल-ब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म की पर्याय-वाचक संज्ञा है—'परा-सम्वित्'। इसे 'पर-विन्दु' भी कहते हैं, जिससे शुक्ल-विन्दु और रक्त-विन्दु अर्थात् 'उन्मनी' और 'समनी' शक्ति-द्वय सृष्ट होकर पृथ्वी-तत्त्व तक के सभी तत्त्वों का विकास करती हैं। फिर ये ही अपनी लीला को समेटकर अपने में ही एक होकर रहती हैं। यही 'सम्विदा'-नाम्नी वेदान्त में सम्यक् प्रकार से प्रमाणित ब्रह्म-विद्या-स्वरूपिणी परा-शक्ति है। यह निष्कला होती हुई भी सकला, निष्क्रिय होती हुई भी सक्रिय शान्ता, निरवद्या और निरञ्जना है। यही दिव्य अमूर्त चैतन्य-स्वरूपा और चित्-सुखात्मिका है।

इसकी पूजा विश्वाहंकृति-पुष्पों से ही होती है। विशेष न कहकर केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि इस स्व-सम्वित् को त्रिपुरा भगवती कहते हैं। श्रुति भी कहती है कि भावाभाव-कला से निर्मुक्त चिदाद्या सच्चिदानन्द-लहरी महा-त्रिपुर-सुन्दरी ही ब्रह्म-सम्वित्ति है।

इस प्रकार की शुद्ध-सम्वित् अर्थात् विशेष यथार्थ ज्ञान-रूपी अमृतार्णव की प्राण-स्वरूपा है। तात्पर्य कि अमर कर देनेवाले ज्ञानार्णव की धर्मी महा-शक्ति है अर्थात् यह भगवती तेज या परं-ज्योति है, जिसका प्रकाश सम्वित् है। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि सम्वित् को कभी अग्नि कहते हैं, तो कभी द्रव-रूपी सुधा। बाह्य दृष्टि से असामञ्जस्य रहते हुए भी आन्तरिक असामञ्जस्य नहीं है। ज्ञान अग्नि का भी काम करता है और द्रव पदार्थ का भी। जैसे वासना-दहन में वह अग्नि-वत् है और आनन्द-विस्तार में द्रव पदार्थ के समान है।

यह सभी भूत-वस्तु की एक-रूपिणी मूलान्तरिक सत्ता है। यही एक ब्रह्मा से लेकर एक कीट या एक परमाणु तक की मूल सत्ता है। इसके बिना किसी भी पदार्थ की स्थिति नहीं है। इसी से इसे 'आ-ब्रह्म-कीट-जननी' कहते हैं।

इसीलिए कहा गया है कि 'तुम्हारी कला के बिना कुछ भी नहीं है।' यह एक जीव-सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन शाक्त-वेदान्त करता है। यह विशुद्ध शाक्ताद्वैत-वाद है। ब्रह्म की पूर्णता एक-मात्र इसी में सिद्ध है। पूज्य-पाद शङ्कराचार्य का द्वैत-वाद माया के कारण त्रुटि-पूर्ण है। शङ्कर ने केवल सद्-ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। पूर्ण सदसद्-ब्रह्म का प्रतिपादन वे नहीं कर सके हैं क्योंकि 'माया' की गुत्थी को वे नहीं सुलझा सके। इसे गोल-मटोल वस्तु—**'न सत् और न असत्'** बताकर **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** श्रुति - सिद्धान्त का एक प्रकार से उन्होंने खण्डन ही किया है। 'योग-वाशिष्ठ' का **'यदिदं दृश्यते, राम ! तद्-ब्रह्मैव निरामयम्'** ( उ० प्र० ७।४४ ) और 'गीता' के सिद्धान्त माया - वादी सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विवर्त-वाद के सदृश माया-वाद शाक्त-वेदान्त में भी है, परन्तु शाक्त माया-वाद में और शाङ्कर माया-वाद में आकाश-पाताल का अन्तर है। माया के कारण शाङ्कर अद्वैत में द्वैत-वाद की छाया पड़ ही जाती है क्योंकि इन्होंने माया को एक ब्रह्म से भिन्न माना है। शाक्त माया-वाद ऐसा नहीं कहता। यह चिच्छक्ति और माया-शक्ति में पदार्थ - भेद नहीं मानता। 'योग - वाशिष्ठ' शाक्त-वाद का समर्थन करता है। जैसा कारण है, वैसा ही कार्य है। यदि ब्रह्म सत् और चित् है, तो इसका कार्य अर्थात् जगत् भी सत् और चित् है। इसी से यह कहता है कि जो ब्रह्म है, वही जगत्-त्रय है।

शाक्त-वाद का विवर्त्त माया-वाद के विवर्त्त के सदृश काल्पनिक किम्भूत किमाकार नहीं है। इस विवर्त्त का चित्र 'योग-वाशिष्ठ' ने इन शब्दों में दिया है कि सकल (सभी) सकल (कला-सहित) हैं। यह नियम सत्य पदार्थ अर्थात् नित्यादि पदार्थ में और अनित्यादि पदार्थ में सामान्य-तया लागू है। सद्-रूप में चिद्-ब्रह्म-रूपिणी सत्य पदार्थ में भी रहती है और असत्य पदार्थ में भी। बात यह है कि असत् पदार्थ एक प्रकार से है ही नहीं। परिवर्तन-शीलत्व ही असत्यता-सूचक है, ऐसा हम साधारण ज्ञान के लोग समझते हैं, परन्तु परिवर्तन-शीलत्व असत् का परिचायक नहीं है। सहज ही जाना जा सकता है कि मिट्टी का परिवर्तन घट-रूप में हो जाने से मिट्टी की असत्यता नहीं सिद्ध होती। इसी प्रकार सार-भाग अर्थात् चिद्-भाग प्रत्येक वस्तु में, चाहे किसी भी अवस्था में क्यों न हो, रहने से सत् ही कहा जायगा। इसी कारण **'सत्ये'** और **'असत्ये'**—ये दोनों पद सम्बोधन भी हो सकते हैं। 'सत्य' और 'असत्य' दोनों ही रूप इसी एक के हैं क्योंकि यह **'विद्याऽविद्या-स्वरूपिणी'** है।

यहाँ तार्किक शङ्कर कह सकते हैं कि यह तर्क-सङ्गत नहीं है कि एक ही वस्तु विरुद्ध-लक्षण की हो अर्थात् जो सत् है, वह कभी भी असत् नहीं हो सकता और जो असत् है, वह सत् नहीं हो सकता। ऐसा कहना युक्ति - विरुद्ध है, परन्तु इनको मानना पड़ेगा कि कोई एक वस्तु अप्रतर्क्य भी है, जिसको अप्रमेय कहते हैं। विरुद्ध-वाक्यार्थ का भी सामञ्जस्य या सार्थकता है। तभी श्रुति ने इस परा-सम्वित् को 'विरुद्ध-वाक्यार्थ-शरीर-मण्डला' कहा है –(देखिए 'तारोपनिषत्')। इस सिद्धान्त के विरुद्ध तार्किक कुछ नहीं कह सकते क्योंकि बुद्धि के आधार पर मन से ही तर्क होता है। जो वस्तु बुद्धि के परे है और जहाँ मन की जवीयता रुक जाती है, वहाँ तर्क बेचारा पंगु और मूक हो है।

असत्यं पुनः सत्यमन्ये द्वि - रूपम्, द्वयातीतमेके जगुः सर्वमेतत्।
न ते त्वां विदुर्मायया मोहितास्ते, चिदानन्द - रूपा त्वमेवाऽसि सर्वम् ॥२॥

टीका—**किसी ने असत्य, किसी ने सत्य, किसी ने दोनों रूप और किसी ने इन दोनों के परे रूप को माना है। फिर बहुतों ने समष्टयात्मक रूप को माना है। तुम्हारी माया अर्थात् अज्ञान से मोहित होकर इन्होंने तुमको नहीं जाना। तुम्हीं चिदानन्द-रूपिणी सब कुछ हो।**

**व्याख्या**—पूर्व पद्य में 'सत्य' और 'असत्य'-रूप में अवस्थिता 'चिद्-रूपा' का प्रतिपादन किया गया है। तात्पर्य यह है कि समस्त 'चिन्मय' है। इसमें 'अचित्' है ही नहीं। ऐसा श्रुति भी कहती है। यह हम अज्ञानियों का विकल्प-मात्र है कि 'चित्'-पदार्थ को 'अचित्' अर्थात् 'असत्' समझते हैं। माया-वादी इसे 'विकार' कहते हैं। संक्षेप में इस 'असत्' की यह परिभाषा है कि जिस वस्तु से 'असत्' का व्यभिचार हो, वह 'असत्' है और जिससे बुद्धि का व्यभिचार न हो, वही 'सत्' पदार्थ है। इनके मत से बुद्धि-मात्र ही 'सत्' और 'असत्' है। यहाँ यह समझ में नहीं आता कि इससे पदार्थ-भेद कैसे हुआ?

असद्-बुद्धिमानों के लिए 'सत्' का सर्वथा लोप हो जाता है, जो किसी भी 'वाद' का सिद्धान्त नहीं है। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'द्रव्य' भी और 'गुण' भी 'सत्' हैं। दोनों का नियत रूप है, ऐसा तर्क-शास्त्र भी कहता है। सत्ता-विभाग जब नहीं है, तब द्रव्य-विभाग और गुण-विभाग का प्रश्न ही नहीं उठता। विशेषतः अद्वैत - वादियों में। यह मत द्वैत - वाद का ही हो सकता है। इसी से माया-वाद का अद्वैत-वाद एक प्रकार का द्वैत-वाद ही है। श्रुति कहती है **'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव-शिष्यते।'** तात्पर्य यह है कि 'पूर्ण' अर्थात् 'सत्' से 'सत्' का ही विकास होता है, 'असत्' का नहीं।

'चित्' से 'चित्' का ही विकास होता है, 'अचित्' का नहीं। 'योग-वाशिष्ठ' भी यही कहता है कि सबका सु-शुभ समझो। जब यही एक रागात्मा, रञ्जक, रञ्जन और रजः है, तब विभाग कैसा ? वस्तुतः यही सब कुछ है—सत्य और असत्य और उन दोनों से अतीत चित् - परातीता। ऐसा 'गीता' तो कहती ही है, 'योग-वाशिष्ठ' भी कहता है। इसी हेतु इसकी संज्ञा है—**'चिदेक-रस - रूपिणी'**, जो सर्वावस्था-विवर्जिता है।

उक्त पद्य में चार रूपों का उल्लेख है, जिनका पृथक् प्रतिपादन 'माया-मोहित' लोग करते हैं। इन चारों रूपों से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चारों अवस्थाओं का बोध होता है। पृथक्-पृथक् मानना ही माया से मोहित होने का लक्षण है। इस भाव का उल्लेख 'कुलार्णव' में भी है। इसी एक आद्या चित् श्री में सभी कुछ पिरोया हुआ है। इसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है।

यथार्थ विद्या-रहित इसे एक रूप-शालिनी मात्र मानते हैं। इस चित्-परा भगवती की कृपा के बिना यथार्थ ज्ञान या गीतोक्त 'बुद्धि-योग' उपलब्ध नहीं हो सकता। 'गीता' भी यही कहती है कि "बिना 'उस' में प्रपन्न हुए माया अर्थात् आवरण के पार नहीं जा सकते।"

विश्व के प्रत्येक अणु-मात्र में चिदानन्द-रूपिणी अवस्थित है। इसी हेतु **'सर्वं'** अर्थात् पूर्ण ब्रह्म है। इसी की तान्त्रिकी संज्ञा है—'सुन्दरी' या 'ललिता' क्योंकि इसके यथार्थ ज्ञान से अखिल विश्व ही ललित दीखने लगता है। इसी ज्ञान को 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं, जिसके सम्बन्ध में आगे सातवें पद्य में बताया जायगा। भगवान् पतञ्जलि ने 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहकर इसका उल्लेख किया है। इसी से अर्थात् एकत्व के ज्ञान से ही मोह और शोक का लय होकर सब आनन्द-ही-आनन्द हो जाता है।

क्षणानां क्रमैर्भिन्न - रूपां धराऽऽद्यैर्मितामाहुरेके तमो - मात्र - रूपाम्।
तमो - दीप्ति - सम्भिन्न - रूपां च शान्त-स्वरूपा महेशीं विदुस्त्वां न तेऽज्ञाः ॥३॥

**टीका—'परिच्छिन्न काल-क्रमों से पृथ्वी आदि पञ्च-तत्त्वों में सीमित - रूपिणी हो'—ऐसा भी अनेक लोगों ने कहा है। फिर तमो - रूपिणी मात्र हो, ऐसा भी कहते हैं। अन्धकार और प्रकाश से सम्भिन्न-रूपा, शान्त-स्वरूपा, तुम परमा सत्ता को इन अज्ञानियों ने नहीं जाना।**

**व्याख्या**—इस पद्य में 'ब्रह्म-रूपिणी' के केवल अनिर्वचनीय - सिद्धान्त का खण्डन है। साथ ही इसमें इसके अमिताकारत्व या अपरिच्छिन्नत्व का भी प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः चित् - तत्त्व अर्थात् शिव-तत्त्व, विद्या-तत्त्व और आत्म-तत्त्व तक अपने को काल-क्रम से परिच्छिन्न करती हुई व्यक्त होनेवाली शक्ति का चित् तत्त्वातीत या असीम है। इसी से इसे शास्त्रों में गुणातीता और तत्त्वाधिका कहा गया है। शिव से लेकर पृथ्वी-तत्त्व तक के ३६ रूपों में यह 'परिच्छिन्ना'—सीमा - सहिता है। यह अचिन्त्य एवं अमिताकार 'विन्दु' का विकास है। यही विशुद्ध तत्त्व है, जो शिव-तत्त्व में के शक्ति - तत्त्व से भिन्न है।

तात्पर्य यह है कि शिव-तत्त्व अर्थात् 'उन्मनी' शक्ति - तत्त्व और शक्ति - तत्त्व अर्थात् 'समनी' शक्ति-तत्त्व से यह परा-सम्विद्-रूपिणी परा है। संक्षेप में इस शाक्त-वेदान्त के सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि परा-चित् सर्व-प्रथम अपने को शुद्ध-तत्त्व में व्यक्त करती है। फिर शुद्ध और अशुद्ध

मिश्र-तत्त्व में और अन्त में आत्म - तत्त्व में व्यक्त करती है। अतः इसे एक - रूपिणी कहकर सीमित-रूपिणी बताना अयुक्त है। सर्व-रूपिणी होने से ही यह पूर्ण-ब्रह्म-रूपिणी है। जो ऐसा नहीं समझ सकते, वे अज्ञानी ही तो हैं।

**'तमो-रूप'** की परिभाषा है पञ्च-महा-भूत-विषयक ज्ञान का अभाव। तात्पर्य यह है कि इस पूर्ण ब्रह्म-मयी का रूप केवल ऐसा ही नहीं है। इस पद्य में 'तम' और 'प्रकाशावस्था'-द्वय-वर्जित शान्त अजर स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है। वस्तुतः यह परमा सत्ता सब कुछ होती हुई भी न केवल अन्धकार - मयी है और न केवल प्रकाश-मयी। परमात्मा का स्वरूप चिन्मात्र विमल शान्त है। **'महेशी'** से उस परा सत्ता का बोध होता है, जो शान्त होकर सर्वत्र अवस्थित है।

वास्तव में यह न तो तमो-रूपा है और न ज्योति - रूपा। यह वही है, जो अपने निराकार अनिर्वचनीय रूप से निकल कर ज्योति-रूप में प्रकट होती है। श्रुति भी ऐसा कहती है। फिर यही अपने को आवृत कर लीला करती हुई इस प्रकार अन्धकार में छिप जाती है कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी मोह में पड़कर किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यह ऐसा क्यों करती है? इसका यह उत्तर है कि लीला-निमित्त ही ऐसा करती है। यह लीला का स्वाभाविक धर्म है। लीला की सुन्दरता इसी में है। इसी से यह अपने को योग-माया से समावृत करके सभी की दृष्टि से ओझल होकर खेलती है। तात्पर्य यह है कि अखिल विश्व के रूप में अवस्थित होकर रहती है। साथ ही विश्व को भी आवरण बनाकर लीला करती है। संक्षेप में **'तमो-दीप्ति-सम्भिन्न-रूपा'** से आदि (मूल) अनिर्वचनीय धर्मी शक्ति का ही बोध होता है। यह महा-प्रलयावस्था के ब्रह्म का रूप है, जब न अन्धकार होता है और न प्रकाश। इसी को अनाख्यावस्था कहते हैं।

**'तमो-दीप्ति'** रूप-द्वय से 'अविद्या' और 'विद्या'—दो रूपों का भी बोध होता है। वस्तुतः विद्या-ऽविद्या-स्वरूपिणी होती हुई भी वह इन दोनों के परे है। इस पद्य में **'शान्ति-कला-संयुक्ता'** तक का ही प्रतिपादन है, परन्तु इसके आगे के पद्य में 'शान्त्यतीता'-कलात्मिका-रूप का प्रतिपादन हुआ है।

शिवादि - क्षिति - प्रान्त - तत्त्वावलिर्या, विचित्रा त्वदीये शरीरे विभाति।
पटे चित्र - कल्पा जले सेन्दु - तारा, नभो - वत् पराऽपि त्वमेकाऽसि सर्वा ॥४॥

**टीका—यह विचित्र अर्थात् आश्चर्य करनेवाली यद्वा मनो-गत शिव-तत्त्व से लेकर पृथ्वी - तत्त्व तक की माला, तुम्हारे शरीर में कपड़े पर छपे चित्र जैसी, जल में तारे - सहित चन्द्र - जैसी दीखती है। आकाश के सदृश इनसे परे है तथापि इनसे परे होती हुई भी एक तुम्हीं सब कुछ हो।**

**व्याख्या**—इस पद्य में 'शान्त्यतीतत्त्व - लक्षणोपेत' और 'सर्व - लक्षणोपेत'—इन दो रूपों का प्रतिपादन है। **'शिवादि-क्षित्यन्त-तत्त्वावली'** को **'विचित्र'** कहा गया है। परा-शक्ति की संसृति 'सत्' और 'असत्'-रूपी होती हुई भी 'अनादि' और 'अनन्त' है। इसी कारण इसे **'विचित्र'** या आश्चर्य - जनक कहा गया है। **'विचित्र'** से विकल्प भाव से अथवा विशेष भाव से 'चित्' (चित्त) से रक्षित अर्थात् चित्त-गृहीत का बोध होता है।

इस **'तत्त्वावली'** के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि शास्त्रों में संख्या-निर्देश में मत - भेद है। कोई कहते हैं ३६। एक सिद्धान्त है कि तत्त्व - संख्या ९६ है। तत्त्व - ज्ञानी ही 'तत्त्वमसि' के ज्ञानी हैं।

**'तत्त्व'** कहते हैं 'सार' को। इसी कारण श्रुतियों और शास्त्रों ने इसे प्रथम स्थान दे रखा है। 'मैत्रेय्युपनिषत्' कहती है—**'उत्तमा तत्त्व-चिन्तैव, मध्यमं शास्त्र-चिन्तनम्।'**

'कुलार्णव तन्त्र' भी कहता है—**'मोक्षस्य कारणं साक्षात्, तत्त्व-ज्ञानं महेश्वरि!'**

छहों दर्शन आदि पढ़ लेने ही से तत्त्व - ज्ञान नहीं होता। ज्ञान से 'तत्त्व-ज्ञान' का ही बोध है। 'तत्त्व-ज्ञान' का बीज है—एक-मात्र गुरु-वाक्य।

वस्तुतः 'तत्त्व' एक है। **'तत्त्वावली'** से रहस्य - तया एक तत्त्व का ही बोध होता है, न कि अनेक तत्त्वों का। यथा धान्य-राशि से 'धान्य' पदार्थ का ही बोध होता है। यहाँ एकत्व और अनेकत्व में परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्व का ही भेद है। कार्यानुगम में तत्त्व का, जीव के सदृश, परिच्छिन्नत्व है और कारणानुगम में अपरिच्छिन्नत्व है। इस पर-तत्त्व के ज्ञाता क्वचित् ही हैं। जानकार लोग ही तत्त्वों की संख्या में परस्पर झगड़ते हैं। यह गूढ़-तर रहस्य है, इसे यथार्थ शाक्त के सिवा दूसरा जान नहीं सकता।

तत्त्व के अवबोधन से 'जगत्'-पद-वाच्य की कल्पना ही अमूलक है। इस प्रकार सिद्ध है कि **'तत्त्वावली'** की कल्पना मात्र है। वस्तुतः एक ही तत्त्व अर्थात् 'चित् - तत्त्व' मात्र इस 'तत्त्वासीना' के शरीर अर्थात् विराट् शरीर को विशेष और विकल्प दोनों प्रकार से व्यक्त करता है। इस पूर्ण - ब्रह्म-रूपिणी का शरीर तीन भागों में विभक्त हुआ कल्पित है। प्रथम ऊर्ध्व-भाग **'वाक्-कूट'** या शिव-तत्त्व का, मध्य-भाग **'काम-कूट'** या विद्या-तत्त्व का और अधो-भाग **'शक्ति-कूट'** या आत्म-तत्त्व का माना गया है।

यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह तत्त्वासना, तत्त्वमयी, तत्त्वाधिका या सर्वातीता अर्थात् सर्व-तत्त्वातीता भी है। यही इस पद्य का सार-सिद्धान्त है अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि परम सत्ता के तीनों रूपों का अर्थात् १ चिन्मात्र-रूपा नित्य-सत्ता, २ अचिन्मात्र - रूपा उभय - स्वरूपा और ३ सर्व-सत्ता-व्यापिका का इसमें प्रतिपादन है।

अचिन्मात्र-रूपा की उपमा **'पट'** पर **'चित्र-कल्पना'** से बोध - गम्य होती है क्योंकि इस उपमा में यह दोष जान-बूझकर ही रखा गया है कि **'पट'** के नाश से **'चित्र'** का भी नाश हो जाता है। फिर उभय-परिणामिनी सत्ता का बोध दूसरी उपमा से होता है, जिसमें **'जल'** के नाश से **'चन्द्र-तारा'** का नाश नहीं होता। फिर चिन्मात्र सत्ता की उपमा आकाश से दी गई है। यहाँ आकाश से 'भूताकाश' का नहीं, 'चिदाकाश' का ही बोध है। 'नभ' अर्थात् 'आकाश' एक ही नहीं है। वैसे तो घटाकाश, मठाकाश आदि अनेक आकाश हैं, परन्तु श्रौत आकाश पाँच हैं १ आकाश (स्थूलाकाश), २ पराऽऽकाश, ३ महाऽऽकाश, ४ तत्त्वाकाश और ५ सूर्याकाश। मण्डल-ब्राह्मणोक्त ये पाँच हैं। फिर यही उपनिषत् कुछ उलट-फेर कर इनके नाम यों देता है—१ आकाश, २ पराऽऽकाश, ३ महाऽऽकाश, ४ सूर्याकाश और ५ परमाकाश। इसी 'परमाकाश' से, जिसे 'चिदाकाश' भी कहते हैं, 'नभ' का तात्पर्य है। चिद्-व्योम ही परमा सत्ता का स्वरूप है।

ऐसी रूपवाली और मिश्र रूप से परे होती हुई भी अर्थात् उपहित चेतना होती हुई भी अनुपहित चेतना-शीला होकर भी सब कुछ यही है अर्थात् सकल ही जो **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** श्रुति-सिद्धान्त का समन्वित तान्त्रिक सिद्धान्त है। इसमें 'पञ्च - दशी' महा - विद्या के तीनों रूपों का प्रतिपादन है। इस प्रतिपादन को हम वैदिक और तान्त्रिक श्रुति-प्रतिपादित 'कादि', 'हादि' और 'सादि' महा - विद्याओं का संक्षिप्त-से-संक्षिप्त चित्राङ्कण कह सकते हैं। फिर इससे विश्व-नित्यता भी सिद्ध होती है।

अभिन्नं विभिन्नं बहिर्वान्तरे वा, विभाति प्रकाशस्तमो वापि सर्वम् ।
ऋते त्वां चितिं येन नो भाति किञ्चित्, तस्त्वं समस्तं न किञ्चित् त्वदन्यत् ।।५।।

**टीका—ये सब बाह्य और आभ्यन्तर में, प्रकट रूप से या अप्रकट रूप से, एक या अनेक रूप में, प्रकाशमान हैं, परन्तु तुम्हारी चिति के बिना कोई भी पदार्थ भासमान नहीं है। इसलिए तुम्हीं सब कुछ हो। तुम्हारे सिवा अन्य कुछ भी नहीं है।**

**व्याख्या—'सर्वम्'** से अखिल विश्व का बोध होता है। यही कभी किसी अवस्था में महा-चिति से एक रूप में और कभी किसी दूसरी अवस्था में विशेष यद्वा पृथक् रूपों में प्रतीत होता है। इस पद्य में भगवती महा-चिति के एकत्व और अनेकत्व में अभिन्नता सिद्ध कर पुनः यही कहा गया है कि इसकी **'चिति'** के बिना किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है अर्थात् यही अपरिवर्तन - शीला महा - शक्ति परिवर्तन-शीला जगत् अर्थात् गति-शक्ति है।

वस्तुतः चमत्कार करनेवाली से चमत्कार - रूपी जगत् भिन्न नहीं हो सकता। यह स्वयं चमत्कार है। कारण से कार्य की अभिन्नता शास्त्र - सम्मत और युक्ति-सङ्गत है, परन्तु जिस कारण विश्व नित्य है, यहाँ कारण-कार्यादि का प्रश्न भी नहीं है। महा-चिति के विश्व से भिन्नत्व को परिणाम-वादी या विकार - वादी ही मानते हैं, शाक्त नहीं। यह तो अविच्छिन्न विलासात्म - रूपिणी है। इसी विलास को विजृम्भण, संसृति आदि कहते हैं। इस संसृति के सम्बन्ध में 'योग-वाशिष्ठी' प्रवचनों से भी स्पष्ट सिद्ध है कि यही एक कर्ता, कारण और कार्य है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

'गीता' भी ऐसा ही कहती है। व्यक्त या अव्यक्त - भाव में, परिच्छिन्नावस्था में और अपरि-च्छिन्नावस्था में इसका विभिन्न - वत् अभिन्न पारमार्थिक रूप है। विन्दु की संसृति या विकास ही श्रीचक्र-राज है। इससे कार्य का कारण-वैजात्य-आपत्ति सिद्ध न होकर स - जातीयत्व अर्थात् एकत्व ही सिद्ध होता है।

**'ऋते त्वां चितिं येन नो भाति किञ्चित्'** अर्थात् तुम्हारी **'चिति'**-सत्ता के बिना कोई वस्तु नहीं है। इस वाक्य से तथा-कथित जड़ पदार्थ के अस्तित्व का निरास होता है। वस्तुतः जगत् में जड़ मात्र पदार्थ है ही नहीं। जड़ परमा सत्ता का ही रूप होने से स्वतः इसमें चिन्मयत्व की धारणा है। यह जगज्जाल, जो असद्-रूप में भासित होता है, सत् का ही विस्फुरण है। अतः कोई भी वस्तु, भले ही बाह्य दृष्टि से जड़ दीखे, परन्तु वस्तुतः इसके भीतर **'चिति'** की अवस्थिति है ही क्योंकि 'सत्' का विस्फुरण 'सत्' ही है और 'चित्' का विस्फुरण भी 'चित्' ही है, ऐसा युक्ति से सिद्ध है। हाँ, यह **'चिति'** की सुषुप्तावस्था है, जिस प्रकार मनुष्येतर चर और वनस्पति आदि अचर में **'चिति'** की स्वप्ना-वस्था है।

इससे सिद्ध है कि यही सब है और इसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु की कल्पना भी नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रवचन से है—**सर्वं खल्विदं ब्रह्म। न किञ्चिदस्ति तद्-व्यतिरिक्तम् ।।**

जो इसके विपरीत समझते हैं, वे पशु हैं। 'शक्ति-सङ्गम तन्त्र' भी कहता है—

**'अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डे, यावन्तः परमाणवः। तावन्तः सन्ति तद्-भूमौ, चिति धूलि - स्वरूपतः ।।**

निरुध्यान्तरङ्गं विलीयाक्ष - सङ्घं, परित्यज्य सर्वत्र कामादि - भावम् ।
स्थितानां महा - योगिनां चित्त - भूमौ, चिदानन्द - रूपा त्वमेका विभासि ।।६।।

टीका—**सब जगह 'कामादि-भावों' का पूर्ण रूप से त्याग किए हुए अन्तरङ्ग चित्त-वृत्तियों का निरोध कर 'अक्ष' अर्थात् इन्द्रिय-समूह को निष्क्रिय किए हुए महा योगियों की 'चित्त-भूमिका' पर रहनेवाली तुम्हीं एक 'चिदानन्द-रूपिणी' हो ।**

**व्याख्या**—चिदचिद् - ब्रह्म-स्वरूपिणी की चिन्मात्रावस्था कब और कहाँ है—यही इस पद्य में बताया है । 'महा-योगी' से सर्व-योनि-मुद्रा-सिद्ध या सर्व-त्रिखण्डा-मुद्रा-सिद्ध साधकों से तात्पर्य है, जो सापेक्षिक निर्विकल्प- समाधि-गत हैं । पूजा-परायण व्यक्ति यदि संहार-क्रम से पूजन करे, तो इस अवस्था में पहुँच सकता है अर्थात् त्रि-भूपुर-रेखा, त्रि-वृत्त-दलावलियों और नव-त्रिकोण का उल्लङ्घन कर विन्दु में पहुँचकर अवस्थित हो सकता है । यह तभी हो सकता है, जब साधक अपनी चित्त-वृत्ति के अन्तरङ्ग खण्डाकारत्व को अखण्डाकारत्व में परिणत करे अर्थात् मन का पूर्ण निरोध करे । भगवान् पतञ्जलि के प्रथम सूत्र **'योगश्चित्त - वृत्ति निरोधः'** से भी इसकी पुष्टि होती है । इसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता । फिर **'अक्ष-सङ्घम्'** अर्थात् इन्द्रिय-समूह को विलीन करता है, अन्यथा प्रशान्तावस्था को प्राप्ति नहीं होती ।

श्रुति के आदेश के अनुसार ऐसे साधक को आँख होते हुए भी अन्धा, कान रहते हुए भी बहरा, जीभ रखकर भी गूँगा रहना है, परन्तु इन्द्रिय-लय और मनो-निरोध के पूर्व काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद (अहङ्कार) और मात्सर्य का पूर्ण-तया त्याग करना होता है, अन्यथा ये दोनों साधन उपलब्ध नहीं हो सकते । इन्द्रिय-लय-कारक को ही 'विजितेन्द्रिय' कहते हैं ।

तन्त्र-शास्त्र उक्त साधक को 'वीर' कहता है । वीरों के अतिरिक्त सामान्य साधक का भी मूल कर्त्तव्य है सार को ग्रहण करना अर्थात् 'चिदेक-रसान्वेषी' होना, अन्यथा वह साधक ही नहीं कहा जा सकता । सार-ग्रहण, सहज धर्म-कर्म का प्रवर्तन और कारण-ग्राम-नियम ही से व्यक्ति यथार्थ साधक होता है । सहज प्राण-धर्म के कर्म में प्रवृत्त होने से चञ्चल प्राण-शक्ति स्थिर होकर सम्बर्धित होती है और 'कारण-ग्राम-नियम' से साधक विन्दु में अपने को नियमित करने का प्रयत्न करता है ।

तथाऽन्ये मनः सेन्द्रियं सञ्चरं चाप्यसंयम्य त्वन्मार्गके जागरूकाः ।
स्व - संवित्-सुधाऽऽदर्श - देहे स्फुरन्तं, महा - योगि-नाथाः प्रपश्यन्ति सर्वम् ।।७।।

टीका—**तुम्हारे मार्गवाले दूसरे जगे हुए महा-योगीश्वर-गण इन्द्रियों के सङ्ग मन का संयमन न कर चतुर्दिक्षु दौड़ाते हुए सबको अर्थात् जगत् को स्व - सम्वित्ति के अमृत आदर्श शरीर में खेलते हुए देखते हैं ।**

**व्याख्या**—'त्वन्मार्ग' से 'तुम्हारे बताए मार्ग' और 'तुम तक जानेवाले मार्ग'—दोनों का बोध होता है । 'मार्ग' का साधारण अर्थ है –रास्ता, विशिष्ट अर्थ है अनुसन्धान । इसी का तान्त्रिक नाम है– 'आम्नाय' । इनकी संख्या नौ है । इन्हीं आम्नायों के क्रम से दिव्य, वाम और दक्षिण भाव भी निर्धारित हैं । यथा—पूर्वाम्नाय में वाम और कौल, दक्षिणाम्नाय में दिव्य और दक्षिण, पश्चिमाम्नाय में वीर और कौल, उत्तराम्नाय में केवल वाम, ऊर्ध्वाम्नाय में वीर और दिव्य तथा पातालाम्नाय में केवल पशु ।

उक्त 'मार्ग' दो प्रकार का है—१ शक्त्यात्मक और २ शिवात्मक। इन्हीं दोनों का उल्लेख इस पद्य में और इसके पूर्व-पद्य में है। 'अ-जागरूक' का पूर्व पद्य में उल्लेख है और 'जागरूक' का इसमें। आरोहण कर 'अ-जागरूक' अर्थात् समाधि-लीन हैं जो, वही अवरोहण कर ज्ञानान्वित हो सक्रिय हैं। ये सक्रिय होने पर भी वस्तुतः निष्क्रिय ही हैं क्योंकि ये फलाकांक्षी नहीं हैं, जिससे कर्म का बन्धन इन्हें नहीं लगता। ये जीवन्मुक्त हैं। ऐसे ही ज्ञानी बाह्य दृष्टि से सब कुछ करते हैं, परन्तु यथार्थतः कुछ भी नहीं करते क्योंकि ये अपना पृथक् अस्तित्व ही नहीं समझते। ये मानते हैं कि न मैं करनेवाला हूँ, न करानेवाला।

इससे स्पष्ट है कि शाक्त-साधना में प्रथम कर्त्तव्य है ऐसा समझना कि '**सब कुछ वही एक है, मैं कोई नहीं हूँ और जो कुछ मैं करता हूँ, वह वही करती है।**' ऐसे ज्ञानवाले जीवन्मुक्त सच्चे साधक अपने कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों को अनियन्त्रित ढङ्ग से होते देख कर भी उसी स्व-सम्वित्ति की लीला या स्व-सम्वित्ति की स्फुरत्ता समझकर आनन्द में विभोर रहते हैं। 'स्व-सम्वित् - सुधादर्श' से चिदादर्श से तात्पर्य है। वस्तुतः 'स्व - सम्वित्ति' की ही छाया जगत् है, जिसमें जो कुछ है, वह सम्वित्ति ही है।

महा-योगीश्वर ( राजा जनक आदि जैसे जीवन्मुक्त ) महा - चिति में ही जगत् और जगत् में दर्पण - रूपी चिति के प्रतिबिम्ब-वत् जगत् को देखते हैं। उसी प्रकार प्रतिबिम्ब में भी उसी चिति को देखते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रतिबिम्ब - रूपी जगत् मिथ्या है और इसमें चिति नहीं है, ऐसी बात नहीं है।

जहाँ महा-योगी लोग महा-चिति के एक-रूपत्व को देखते हैं, वहाँ योगियों से भी श्रेष्ठ व्यक्ति (महा-योगि-नाथ) महा-चिति के अनेक-रूपत्व को देखते हैं। ऐसा अन्तर्निवृत्त और बहिः-प्रवृत्त अर्थात् '**अन्तः शाक्ताः, बहि शैवाः**' साधक अर्थात् वीर साधक हो कर सकता है। वस्तुतः वीरों को उचित और असत् से डरकर संसार अर्थात् प्रवृत्ति से मुँह मोड़ना नहीं है।

निरुक्ते महा - सार - मार्गेति - सूक्ष्मे, गतिं येन विन्दन्ति मूढ - स्वभावाः।
जनान् तान् समुद्धर्तुमक्ष्णाऽवगम्यं, बहिः स्थूल - रूपं विभिन्नं बिभर्षि ॥८॥

**टीका--सबसे सार अति सूक्ष्म निरुक्त-मार्ग में जो मन्द-बुद्धिवाले नहीं जा सकते, उनके उद्धार के निमित्त देखने योग्य भिन्न-भिन्न प्रकार के बाहरी स्थूल रूप धरती हो।**

**व्याख्या**—पूर्व के पद्यों में 'रूपातीता' या 'निराकार' का प्रतिपादन था। इसमें 'साकार' का प्रतिपादन है; इसीलिए सर्व-प्रथम इसकी उपयोगिता दिखलाई है।

साधारण-तया 'निरुक्त' अनिर्वचनीयत्व-जन्य अकथित वेदांश को कहते हैं, परन्तु यह विशिष्ट प्रकरण विशेष-तया पञ्चम-वेद अर्थात् तन्त्र-शास्त्र में ही प्रतिपादित है। यद्वा 'निरुक्त' (निर्+युक्त) का शब्दार्थ है—'अकथित'। इस अति सूक्ष्म महा-सार-वाले निरुक्त-मार्ग को जगद्-गुरु भगवान् दक्षिणा-मूर्ति मौन मुद्रा से ही, बिना कुछ कहे, बताते हैं। जगद्-गुरु के प्रतिनिधि पार्थिव गुरु भी इसी प्रकार बताते हैं क्योंकि महा - सार - रहस्य अनिर्वचनीय है। जब गुरु की कृपा होती है, यह मार्ग स्वयं उदित होता है।

वस्तुतः यह उसी 'परमात्म-तत्त्व' के ज्ञान का अति-सूक्ष्म मार्ग है, जिसके अस्तित्व का ज्ञान भी सर्व-साधारण को नहीं है। प्रकारान्तर से एक श्रुति भी ऐसा ही कहती है कि **'वहाँ तक जाने का कोई मार्ग ही नहीं है और न कोई साधन ही है।'** महा-चिति की सुषुप्तावस्था या अव्यक्तावस्था के सम्बन्ध में यह उल्लेख है। यह न विज्ञान-गम्य है और न दर्शन-गम्य; यह है अनुभव-गम्य, जिसका आधार है अनुसन्धान-रूपी पूजा। 'निरुक्त-मार्ग' का यह पूजन अर्थात् आत्म-शक्ति-सम्वर्धन-प्रक्रिया करते-करते स्वयं ज्ञात होती है। फिर भी गुरु की कृपा के बिना ज्ञात नहीं होती।

संक्षेप में, 'ज्ञान-यज्ञ' के जो अधिकारी नहीं हैं, उनके उद्धार के लिए भगवती स्थूल दृष्टि से देखने के योग्य विकल्प - भाव से भिन्न या पृथक् स्थूल रूप धारण करती है। इसके ध्यान दो प्रकार के हैं--१ अ-रूप और २ स-रूप। श्रुति के शब्दों में इन दोनों को 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' ध्यान कहते हैं। 'अ-रूप'-ध्यान वाणी और मन से परे होने के कारण अयोगियों के हेतु अगम्य है, इसलिए 'स-रूप' ध्यान की आवश्यकता है। 'स-रूप-ध्यान' की उपयोगिता इसलिए भी है कि यह 'अ-रूप' या सूक्ष्म ध्यान का प्रयोजक है।

विभिन्न रूपों की कल्पना गुण-क्रियानुसार है। अन्यथा 'अचिन्त्य' आदि गुणों से युक्त परा-महा-चिति की कल्पना ही नहीं हो सकती। जिसे ब्रह्मादि त्रि-देव भी नहीं जानते, उसकी कल्पना कहाँ? विभिन्न स्थूल रूपों में वह, गीता के शब्दों में, 'सु-दुर्दर्श' है, जिसे देखकर अर्जुन-सा वीर भी भयभीत हो गया और त्राहि - त्राहि करने लगा! श्रुति भी कहती है कि ब्रह्मा भी इसके स्वरूप को देख कर डरते हैं।

वस्तुतः देश और काल से अपरिच्छिन्न रूप दुर्दर्श होता ही है। इसी कारण जब यह व्यक्त होती है, तब देश-काल-परिच्छिन्न रूप से ही होती है। यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि 'विभिन्न'-शब्द ऐक्य - वाचक ही है। **'वि'** से विगत का बोध होता है या इससे विकल्प का भी भाव ले सकते हैं। यहाँ **'विभिन्नम्'** का अर्थ **'विशेष - रूपेण भिन्नम्'** नहीं है क्योंकि यह अपने स्वरूप से भिन्न कभी नहीं हो सकती।

**'अक्ष्णाऽवगम्यं'** का शब्दार्थ है--आँख से देखने के योग्य। यहाँ चक्षु से स्थूल और सूक्ष्म (ज्ञान) दोनों चक्षु से तात्पर्य है। सम्भव है कि यहाँ 'साक्षात्कार' से आशय हो, क्योंकि तन्त्र-शास्त्र प्रत्यक्ष दर्शन के भी विधान का प्रतिपादन करता है।

त्वदाराधनेऽनेक - मार्गान् विचित्रान्, विधीयाथ मार्गेण केनापि यान्तम्।
नदी - वारि सिन्धुर्यथा स्वीकरोति, प्रदाय स्व - भावं स्वात्मी-करोषि ॥९॥

टीका--**तुम्हारी आराधना के अनेक विचित्र मार्गों में से किसी एक मार्ग से जानेवाले को तुम अपने भाव से आपन्न कर अपने में उसी प्रकार मिला लेती हो, जिस प्रकार समुद्र नदियों के जल को स्वीकार करता है।**

**व्याख्या**--इस पद्य में यह बताया है कि मनुष्य भिन्न-भिन्न रुचि के होते हैं। इसी से वे एक-मार्गावलम्बी नहीं हैं, परन्तु इससे क्या? जाने का स्थान तो एक ही है। सब उसी एक स्थान--'परम पद' को ही जाते हैं। करुणा-मयी सर्व-जननी अपने बिछुड़े बच्चों को, चाहे वे धर्मिष्ठ हों या पापी, अपनी गोद में ले ही लेती है--जिस प्रकार समुद्र सभी नदियों के जल को, चाहे स्वच्छ हो या गन्दा, अपने में लेकर अपना-सा कर देता है।

**'अनेक-विचित्रान् मार्गान्'** से कई तात्पर्यों का बोध होता है। समस्त मार्गों से श्रौत, अश्रौत, आस्तिक, नास्तिक, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि के सम्बन्ध में उल्लेख है। यहाँ किसी भी मार्ग के पथिक की उपेक्षा नहीं की गई है। यहाँ तक कि विदेहात्म-वादी चार्वाकों की भी उपेक्षा नहीं है। फिर अर्ध-नास्तिक, यथा--शून्य-वादी माध्यमिक क्षणिक विज्ञान-वादी योगाचारी, आनुमानिक क्षणिक बाह्यार्थ-वादी सौत्रान्तिक आदि की क्या कथा ! यह उदारता 'शक्ति-वाद' में ही है। श्री माता के दरबार में कुपुत्र और सत्पुत्र में विषमता नहीं है। 'समर' अर्थात् 'परम-पद-प्राप्ति' के उद्योग में निष्ठुरता रखती हुई भी 'दयार्द्र-चित्ता' के दरबार में भक्त और अभक्त की विवेचना नहीं होती। यह तो समान भाव से सबका कल्याण करनेवाली है। यह अपने में हम सभी कृतोपासकों को शीघ्रतया या विलम्ब से मिला ही लेती है, यह अकाट्य नियम है।

विलम्ब का कारण है 'अनधिकारिता'। यह 'अनधिकारिता' भी इस चिति महा-शक्ति की विकास-क्रिया से क्रमशः दूर होती है। यह एक जन्म का विषय नहीं है -'**अनेक जन्म-संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्**' (गीता)।

यद्यपि यह सिद्धान्त ठीक है कि जिसका जन्म हुआ है, उसका एक दिन संयोग होगा ही, परन्तु प्रश्न है कम या अधिक ठोकर खाने के बाद। इसी से शास्त्रों ने अनेक प्रकार के उपाय निर्धारित किए हैं। 'तन्त्र' का कहना है कि सर्व-प्रथम 'वैदिक-मार्ग' से चलो अर्थात् 'गायत्री--महा-शक्ति' की आराधना करो, जिसके गान (जो गुरु-मुख से ही अवगम्य है) मात्र से त्राण होता है। फिर 'वैष्णवाचार' से साधना करो अर्थात् शक्ति को शक्ति-मान् के रूप में सर्व-व्यापकत्व - रूप में देखो। तब 'शैवाचार' अर्थात् शक्ति की मोक्ष-दायकत्व भावना से उपासना करो। फिर 'दक्षिणाचार' अर्थात् 'दक्षिणा-काली' के 'महा-नील-क्रम' से करो अर्थात् महा-शक्ति के निर्गुणत्व, निर्विकारत्व आदि लक्षणोपेत-भावना से साधना करो। फिर 'वामाचार' अर्थात् तारा के महा-चीन - क्रम से अर्थात् शब्द-ब्रह्म-रूप से साधना करो। तदनन्तर 'सिद्धान्ताचार' अर्थात् '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' सिद्धान्त-रूपिणी षोडशी महा-त्रिपुर-सुन्दरी के रूप से उपासना करो। फिर अन्त में 'कौलाचार' से अर्थात् ब्रह्म-ज्ञानी होकर रहे। यह सब केवल सद्-गुरु-मुख से जाना जा सकता है।

**'त्वदाराधने'** का राहस्यिक सूक्ष्म तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार के रूप या नाम की आराधना क्यों न हो, वह इसी एक सर्व-रूप और सर्व-नामवाली की ही होती है। साधारणतया आराधना, उपासना, यजन आदि एकार्थ-वादी पदों से 'बाह्य पूजन'-उसमें भी 'अपरा पूजा' का ही तात्पर्य लिया जाता है, परन्तु वस्तुतः 'आङ्+राध+ल्युट्' का वाच्यार्थ ही है—सब प्रकार पाचन-क्रिया। इसी को सम्वर्धन-रूप 'पूजा' कहते हैं। इस सम्वर्धन से प्रधानतया 'प्राण-शक्ति' के सम्वर्धन का बोध होता है, जिसके बिना ज्ञान-सम्वर्धन भी दुर्लभ है।

अभाव और भाव-रहित होना ही इस ब्रह्म-रूपिणी का स्वभाव है। इसी को आत्म-भाव कहते हैं, जिसको प्रकृष्ट रूप से देकर भगवती अपने आराधकों को अपने में मिला लेती है।

तथा तासु मूर्तिष्वनेकासु मुख्या, धनुर्वाण - पाशांकुशाढ्यैक - मूर्तिः।
शरीरेषु मूर्द्धेव ये त्वां भजेयुः, जनास्त्रैपुरीं मूर्तिमत्युत्तमास्तेः ॥१०॥

टीका--**और उन अनेक रूपों में धनुष, वाण, अंकुश तथा पाश-युक्त मूर्ति (रूप) ही मुख्य है। (फिर) वे सबसे उत्तम हैं, जो तुम्हारी त्रैपुरी अर्थात् त्रिपुरा-रूप का ध्यान सिर पर करते हैं।**

**व्याख्या**--इस पद्य में पूर्वोक्त अनेक प्रकार के स्थूल रूपों में भगवती के श्री-रूप को भावनार्थ के आधार पर मुख्य बतलाया गया है और साथ ही ध्यान के उत्तम स्थान का निर्देश भी हुआ है।

धनुष, वाण, अंकुश और पाश धारण करनेवाली मूर्ति से श्रीमहा-त्रिपुर-सुन्दरी का बोध होता है। इस रूप को मुख्य इस हेतु कहा गया है कि यह पूर्ण-ब्रह्म अर्थात् चिदचित् और सदसद्-ब्रह्म-द्योतक है। परं-ब्रह्म या अनिर्वाच्य परम-सत्ता, जिसका बोध दश-महा-विद्याओं की आद्या अर्थात् काली से है, पूर्ण नहीं है क्योंकि यह भी किञ्चित् परिमाण में ही व्यक्त है। ऐसा ही 'हादि-मत' का कथन है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जब प्रत्येक अणु ही पूर्ण है, जैसा 'श्रुति' कहती है--

**'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'**

अर्थात् पूर्ण से पूर्ण ले लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है, तब 'अपूर्ण' कैसे कहा जा सकता है, विशेषतः किसी महा-विद्या का रूप, उसमें भी आदि-द्वय! यह सर्व-पूर्णता वास्तविक है, न कि भक्ति-कल्पित? भक्ति-कल्पित से तात्पर्य है अवास्तविक का। यह अवास्तविकता तभी सम्भव है, जब भक्ति की कल्पना का आधार ही अवास्तविक हो अर्थात् अयथार्थ लक्षणाओं से रूप की कल्पना की गई हो। हम ऐसा किसी उप-विद्या के रूप के सम्बन्ध में भी नहीं कहते। अतः ऐसा कहना सर्वथा अनुपयुक्त है, विशेष कर एक-मूर्ति - रूपिणी यथार्थतः अभिन्न-स्वरूपा ब्रह्म - त्रिमूर्ति-द्योतक मूल त्रि - महा-विद्याओं के सम्बन्ध में।

शास्त्रों ने तो ऐसे भेद करनेवालों को नरक-गामी ठहराया है। तन्त्र-शास्त्र की स्पष्ट उक्ति है—**'भेदको नरकं व्रजेत्।'** षोडशी महा-विद्या रक्त-काली है अर्थात् प्रेरिका शक्ति या सब कुछ करने-वाली। जिस प्रकार 'ललिता' और 'कामेश्वरी' त्रिपुर-सुन्दरी से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार 'दक्षिणा काली' भी भिन्न नहीं है। 'पञ्च-दशी' विद्या ही 'सिद्धि-काली' और 'परा-प्रसाद-विद्या' ही 'काम-कला-काली' है। फिर 'दीक्षा-चरण विद्या' ही 'हंस-काली' है और 'गुह्य-काली' ही 'षट्-शाम्भवेश्वरी' है। इस प्रकार के शास्त्रीय सिद्धान्तों के रहते हुए भी यदि हम तीनों में अर्थात् काली, तारा तथा सुन्दरी और इन तीनों के संयुक्त रूप 'छिन्ना' में भेद - भाव रखें, तो यह सर्वथा हमारी अज्ञता और सङ्कीर्ण-हृदयता ही है।

प्रश्न यह है कि 'त्रैपुरी'-रूप को ही मुख्य क्यों कहा गया है? एक तो 'मुख्य' और 'अमुख्य' या 'गौण' का प्रश्न होता है भिन्न पदार्थों के सम्बन्ध में। जब यहाँ भिन्नता का अस्तित्व ही नहीं है, तो मुख्यता का प्रश्न कैसा? दूसरे जब आयुधों के अन्तस्तात्पर्य के आधार पर इस रूप की मुख्यता कही गई है और आयुध-द्योतित उन लक्षणाओं का अस्तित्व तीनों ही रूपों के आयुधों में मिलता है, तब इन तीनों में से किसी एक रूप को मुख्य कहना अयुक्त ही है।

जिस प्रकार धनुष, वाण, पाश और अंकुश से इच्छा, ज्ञान और क्रिया—इन त्रि-धर्म-शक्ति-शीला या परमा धर्मी शक्ति का बोध होता है, उसी प्रकार आद्या के खड्ग, मुण्ड, वर और अभय तथा द्वितीया के खड्ग, कर्तरिका, पद्म और कपाल से भी बोध होता है। अथवा जिस प्रकार धनुष, वाण आदि से अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का बोध होता है, उसी प्रकार प्रथमा और द्वितीया के चतुरायुधों से भी व्यक्त होता है। अथवा जिस प्रकार एक विद्या के आयुधों से कैवल्य-प्राप्ति में काषाय, लय, विक्षेप और रसास्वाद-रूपी बाधाओं को दूर करनेवाली महा-विद्याओं का बोध होता है, उसी प्रकार शेष दोनों रूपों के चतुरायुधों से भी बोध होता है।

हाँ, एक ही विद्या या मूर्ति का उपासक शेष दो विद्याओं के भावनार्थ को नहीं जान पाता। अतः वह अपनी उपास्या को मुख्य और शेष को अमुख्य कहता है, किन्तु 'ब्रह्म-ज्ञानी' के लिए कोई भी विद्या अपूर्ण या गौण-रूप नहीं है।

वास्तव में **'मुख्यता'** का उल्लेख प्रथमाधिकारी और मध्यमाधिकारी साधकों के लिए ही आदि त्रि-महा-विद्याओं के अतिरिक्त, उप-विद्याओं को लक्ष्य में रखकर किया गया है। फिर जिस रूप का जहाँ प्रतिपादन है, वहाँ उसी एक विशिष्ट रूप को 'मुख्य' कहा जाता है। यह युक्ति-सङ्गत है क्योंकि जैसा पूर्व कहा है, इस रूप से सर्व-श्रेष्ठ धर्मी शक्ति का बोध होता है। त्रिपुरा-मूर्ति का रहस्यार्थ है—त्रि-गुण-नियन्त्री महा-शक्ति—ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय—विशुद्ध त्रिपुटी से भी अतीता परमा-शक्ति, जिसका ज्ञान किसी दूसरे को नहीं है। यही मुख्य रूप है।

अब इसका ध्यान कहाँ अर्थात् शरीर के किस केन्द्र में करें, इसका भी निर्देश इस पद्य में हुआ है। **'शरीरेषु'** पद से बहु-वचनान्त में इस रूप का प्रयोग भी रहस्य-मय है। एक वचनान्त-पद का प्रयोग न करने का कारण यह है कि शरीर एक नहीं है, जैसा हम बाह्य दृष्टि से देखते हैं। वास्तव में-१ स्थूल, २ सूक्ष्म और ३ पर—इन तीन प्रकार के हमारे शरीर हैं। इनके मूर्ध में अर्थात् तीनों शरीरों में सबसे श्रेष्ठ शरीर में भजन करना उचित है।

'भजन' का अन्तस्तात्पर्य है, परिपाचन-क्रिया। वस्तुतः वही भक्त है, जो अपने को गुरु - द्वारा निष्कञ्चुक हो अर्थात् 'धान' से 'चावल' बनकर यथार्थ ज्ञान-रूपी अग्नि में सिद्ध अर्थात् परिपक्व होकर भात (भक्त) हो गया है। मनुष्य-रूपी और अन्न-रूपी भक्त—इन दोनों की क्रिया समान है। दोनों के बीज, 'क्षेत्र-कर्षण' के बाद ही बोए जाते हैं। यम, नियम आदि से इस शरीर - रूपी खेत की जुताई होती है, जिससे सहज उत्पन्न होनेवाले विषय-ज्ञान-रूपी काँटे दूर होते हैं।

यहाँ बीज से स्वात्म-ज्ञान-रूपी बीज से तात्पर्य है। फिर इस अंकुर का सिञ्चन क्रमोपासना-रूपी जल से होता है। जब शस्य पकती है अर्थात् ज्ञान कुछ परिपक्व होता है, तो धान अर्थात् कञ्चुकित जीव की भूसी अर्थात् अविद्या-रूपी आवरण गुरु-द्वारा वैधी-दीक्षा से हटता है। अब यह चावल हो गया अर्थात् शिव-भावापन्न हो गया, परन्तु इस आत्म-ज्ञान अर्थात् **'मैं शिव हूँ'**—ऐसे ज्ञान की स्थिरता सिद्ध होने से ही है। जिस प्रकार पकाने से ही चावल भात के रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार निदिध्यास-रूपी पाचन-क्रिया से जीव 'भक्त' व 'सिद्ध' हो जाता है और उसको पतन का डर नहीं रह जाता। इसी प्रक्रिया को 'भजन-क्रिया' यथार्थ रूप से कहते हैं।

इस क्रिया के सम्पादन का स्थान शरीर-स्थित छः मानसिक चक्रों में है। जो जहाँ पका सकता है, वह वहाँ ही पकाता है। यह अधिकारिता और रुचि पर निर्भर करता है। जो हृदय में अर्थात् 'अनाहत-चक्र' में करते हैं, वे प्रथमाधिकारी स्थूल-रूप से करते हैं। 'भ्रू-मध्य' या 'आज्ञा - चक्र' में करनेवाले मध्यमाधिकारी हैं। ललाट के अग्र में अर्थात् 'व्योम-चक्र' में जो करते हैं, वे उत्तमाधिकारी हैं और जो मूर्धा अर्थात् सहस्रार-स्थित 'ब्रह्म-रन्ध्र' में करते हैं, वे अत्युत्तमाधिकारी या सर्व - श्रेष्ठ हैं। ऐसा 'श्रुति' योग-शिखोपनिषत् भी कहती है।

यहाँ इतना उल्लेखनीय है कि साधक अपने मन से ही ध्यान-स्थान में परिवर्तन न करे। इसमें भी गुरूपदेश की आवश्यकता है, अन्यथा अनिष्टापत्ति की सम्भावना है।

जनान् दुःख - सिन्धोः समुद्धर्तु-कामा, पथस्ताननेकान् प्रदर्श्य प्रकृष्टान् ।
दयार्द्र - स्वभावेति विख्यात - कीर्तिस्त्वमेकैव पूज्या परा-शक्ति-रूपा ॥११

**टीका--दया से आर्द्र - स्वभावा होने से, दुःख के समुद्र से सम्यक् प्रकार से जनों को उबारने के लिए अनेक श्रेष्ठ मार्ग बतला कर, विख्यात कीर्तिवाली एक तुम्हीं परा - शक्ति अर्थात् श्रेष्ठा शक्ति-रूपिणी पूजन-योग्या हो ।**

**व्याख्या**--इस पद्य में भगवती के स्वाभाविक दयार्द्र होने की कथा है, जिसे सब जानते हैं। ऐसा निर्विवाद लक्षण होने से सबकी एक - मात्र आराध्या यही है। इसमें एक और भी आदेश है, जो अन्तर्गर्भ है। वह यह है कि 'शक्ति' की पूजा--परा अर्थात् श्रेष्ठ धर्मी-शक्ति के रूप में ही ठीक है। यह किसी और अर्थात् किसी शक्ति-मान् की शक्ति है, ऐसा समझ कर पूजन नहीं करना चाहिए। तात्पर्य कि अधिष्ठात्री 'शक्ति' की पूजा ही सर्व-श्रेष्ठ है। यह इसका अन्तस्तात्पर्य है।

शक्ति-मान् तो 'शक्ति' का अधिष्ठान है अर्थात् अव्यक्ता शक्ति इन्हीं शक्ति-मान् रूपी अधिष्ठानों द्वारा व्यक्त होती है। अतएव 'शक्ति' ही मूल पदार्थ है, ऐसा तात्पर्य है। 'शक्ति' का अस्तित्व अकेले अर्थात् पुरुष-अधिष्ठान के बिना भी है। पुरुष या शिष्य-रूपी अधिष्ठान का अस्तित्व अधिष्ठात्री शक्ति के बिना नहीं है। ऐसा पाश्चात्य विज्ञान भी कहता है।

अकेले 'शक्ति' की अर्थात् 'पदार्थ-रहित शक्ति' की धारणा असम्भव-सी है, जब तक हम 'योग' में बहुत अग्रसर नहीं हो जाते। इसी कारण शक्ति-मानों का आश्रय लेना ही पड़ता है। ऐसा आधुनिक विज्ञान-वेत्ता भी कहते हैं। 'तन्त्र-शास्त्र' भी यही कहता है कि प्रपञ्च-मूलक ही शिव या शक्ति-मान् है।

वस्तुतः शक्ति-शिवात्मक या शक्ति-शिव-सम्बन्धी प्रश्न प्रायः निरुत्तर-सा प्रतीत होता है, यदि हम दोनों को दो समझें। यथार्थतः मूलावस्था में दोनों एक हैं। आधुनिक विज्ञान भी 'स्पिरिट' और 'मैटर' को एक मानने लगा है। प्रोफेसर हैगेल कहते हैं—**'शक्ति और पदार्थ दो भिन्न वस्तु नहीं हैं। ये दोनों एक ही मूल वस्तु के दो रूप हैं।'**

अब प्रश्न यह है कि यह **'दयार्द्र-स्वभावा'** क्यों है ? इसका भी समाधान हमको अद्वैत और द्वैत दोनों भावों में मिलता है। अगर हम 'एक-जीव-वाद' के क्रम से देखें, जो 'शाक्त-वाद' का सच्चा रूप है, तो सहज ही जान सकते हैं कि अपने प्रति सभी दयार्द्र हैं और द्वैत-भाव से जो प्राथमिक उपासना - क्रम है, उससे भी जान सकते हैं कि माता का हृदय सर्वदा अपनी सन्तान के प्रति दया से भीगा रहता है। यद्यपि पिता भी दया-शील रहता है, परन्तु माता के समान नहीं।

कु-पुत्र और सु-पुत्र का भेद - भाव पिता में कुछ रहता ही है, पर मातृ - हृदय में नाम मात्र को नहीं। वरन् सु-पुत्र से अधिक कु-पुत्र पर ही माता का विशेष दयार्द्र ध्यान रहता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमको व्यष्टि में भी माता के स्नेह - व्यवहार से मिलता है। इसी हेतु मातृ - भावोपासना को सर्व - श्रेष्ठ माना गया है। समष्टि मातृ - भाव से हो या व्यष्टि मातृ - भाव से हो अर्थात् सापेक्ष या निरपेक्ष भाव से हो।

अन्त में एक प्रश्न यह उठता है कि 'यथार्थ पूजन' क्या है ? प्रकृति-पुरुष में संयत-चित्त होकर, अव्यक्ता परा-शक्ति में युक्त भाव से रहने को ही यथार्थ पूजा कहते हैं। इस प्रकार की पूजा को 'परा पूजा' कहते हैं। अन्य सभी प्रकार की पूजाएँ गौण हैं। 'परा पूजा' को ही अनुभूत कहते हैं। केवल ज्ञान से यह आनुमानिक है और क्रिया-योग-द्वारा यह प्रत्यक्षानुभूति में परिणत होती है।

इस पूजा के अनेक उत्कृष्ट क्रम हैं, जिनको इसने विमर्श - शक्ति या गुरु के रूप में अपने जनों के सांसारिक आवागमन-दुःख से मुक्ति के हेतु देश-कालानुसार दिखलाया है। इस बात को सभी जानते हैं। इसी हेतु **'विख्यात-कीर्ति'** कही गई है।

इस पद्य से ऐसी शिक्षा मिलती है कि यह जिस पर दया करती है, वही इससे बुद्धि - योग पा सकता है, जिससे वह व्यक्ति इसको पा लेता है—**'ददामि बुद्धि-योगं तं, यो मामुपयान्ति ह।'** (गीता)। अतएव एक यथार्थ गुरु-रूपिणी आद्या-शक्ति की कृपा से सब कुछ हो जाता है।

सदा ते पदाब्जे मनः षट्-पदो मे, पिबन् तद्-रसं निर्वृतः संस्थितोऽस्तु।
इति प्रार्थनां मे निशम्याशु मातर्विद्ये! हि स्व-दृष्टिं दयार्द्रामपीषत् ॥१२

**टीका—तुम्हारे चरण - कमलों में मेरा मन सर्वदा भ्रमर बन रसास्वादन करता हुआ तृप्त होकर रहे। ऐसी मेरी प्रार्थना को सुनकर हे माता! थोड़ी-सी भी अपनी दया-दृष्टि मुझ पर डालो।**

**व्याख्या**—इस पद्य में सच्चे साधक का आभ्यन्तरिक कैसा भाव हो, यह दिखलाया गया है। इस भाव की छाया हमको 'आनन्द - लहरी' (सौन्दर्य - लहरी का प्रथमांश) के **'ददाती दीनेभ्यः'** इत्यादि (२९ वें) पद्य में मिलती है, जिसकी व्याख्या 'आनन्द-लहरी' में प्रकाशित है।

**पदाब्ज** अर्थात् पद-कमल से तात्पर्य है 'सहस्र-दल-कमल' से, जिसकी कर्णिका में स्थित विन्दु पर भगवती बैठी हुई है। इसी विन्दु को सुमेरु-शृङ्ग-मध्य कहते हैं। भक्त की इच्छा विन्दु में लय हो जाने की नहीं है। ऐसा होने से तो वह स्वयं अमृत हो जायगा और ऐसी परिणति में वह स्वयं मधु-पान नहीं कर सकता। किसी बँगला कवि ने ठीक ही कहा है—**'आमी चीनी होते चाही ना, चीनी खेते चाही।'** इसी भावानुसार सायुज्य या निर्वाण मुक्ति के बदले सामीप्य मुक्ति चाहनेवालों का सिद्धान्त है।

इसी कारण मन या जीव सप्त-पदी न होकर षट्-पदी मात्र रह अमा-कला-स्थित इसके पैरों से स्रवित रस पीना चाहता है। इसी से यथार्थ तृप्ति मिलती है। यह क्रिया 'कुण्डली योग' से ही सम्पादित होती है अर्थात् षट्-चक्र-भेदन करने पर ही यह रस मिलता है। बिना इस परम ज्ञानामृत को पान किए कोई पूर्णतया तृप्त नहीं हो सकता। भक्ति-योगी, क्रिया-योगी और ज्ञान - योगी आदि सभी योगियों की तृप्ति एक-मात्र इसी रस-पान से होती है। जो भाग्यवान् साधक इस परमामृत को एक बार चख लेता है, वह तुच्छ रसों को चखना नहीं चाहता। वह 'निःशेष रूप' से वृत अर्थात् आच्छादित या मग्न होकर 'संस्थित' अर्थात् सम्यक् प्रकार से व्यवस्थित हो जाता है। इन पद - कमलों की महिमा ही ऐसी है। इस रसास्वादन के लिए देव-दानव आदि सब तरसते हैं। इसी हेतु प्रार्थना है उस आनन्द-मयी को तनिक-सी करुणा-दृष्टि के लिए।

साधक-बन्धु! जाओ सद् - गुरु के निकट और काय, मन, वचन से सेवा कर लाभ करो उस पराम्बा-रूपी गुरु की कृपा। बस, तुम्हारा बेड़ा पार है। तुमको अपने गुरु-देव ही इस रस को चखावेंगे। इसमें सन्देह नहीं। बोलो आद्या-शक्ति, सद्-गुरु की जय! ॐ शन्नः कौलिकः, ॐ शम्।

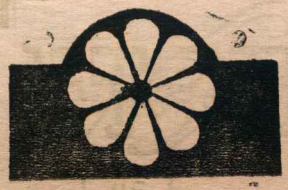

# आध्यात्मिक शोध

श्री जे० एल० भरद्वाज, ज्योतिषी, श्री चामुण्डा ज्योतिष-केन्द्र, अहमदाबाद (गुजरात)

आगमादि शास्त्रों में वर्णित दश महा - विद्याएँ सर्व-विदित हैं। वे महा-विद्याएँ अध्यात्म-दृष्टि से कहाँ आरोपित होती है, यह एक गम्भीर शोध का विषय है। निम्न विवरण से इस विषय को हृदयङ्गम किया जा सकता है—

| महा-विद्या | अध्यात्म-तत्त्व | शक्ति | महा-विद्या | अध्यात्म-तत्त्व | शक्ति |
|---|---|---|---|---|---|
| १ काली | स्फुरणा | परा | २ तारा | प्रेरणा | परा |
| ३ षोडशी | इच्छा | अपरा | ४ भुवनेश्वरी | (आशा) आकांक्षा | अपरा |
| ५ छिन्नमस्ता | अपेक्षा | अपरा | ६ भैरवी | प्रतीक्षा | अपरा |
| ७ धूमावती | प्राप्ति | परा-अपरा | ८ बगलामुखी | मुक्ति | परा अ० |
| ९ मातङ्गी | तृप्ति | परा-अपरा | १० कमला | मुक्ति | अ० परा |

इन दश महा-विद्याओं का सम्बन्ध क्या दश प्राणों और दश इन्द्रियों से नहीं है ? इनकी उपासना कम-अधिक मात्रा में क्या सभी लोग नहीं करते ? सभी धर्म-सम्प्रदायवाले या धर्म की उपासना-पूजा को न माननेवाले भी त्रि-शक्ति–१ काली (क्रिया), २ लक्ष्मी (इच्छा) और ३ सरस्वती (ज्ञान) की पूजा हर पल क्या नहीं करते ? ऊपर लिखी स्फुरणादि विद्याएँ क्रमिक रूप से विकसित होकर क्या वैष्णवी शक्ति में परिवर्तित नहीं होतीं और सर्व-श्रेष्ठ मुक्ति नहीं देतीं ?

उक्त सभी प्रश्नों का समाधान निम्न तथ्यों को हृदयङ्गम करने से सहज ही हो जाता है—

दश महा-विद्याएँ ही दश प्राण, दशावतार, दश इन्द्रियाँ, दश दिशाएँ और दश द्वार हैं।

कोई कुछ भी कहे, 'शक्ति-पूजा' शीघ्र सिद्धि - दायक और कल्प - वृक्ष––जैसी फल - दात्री है। यह तो अनुभव किया हुआ प्रमाण - भूत विचार है। दिव्य शक्ति का आविर्भाव होता है, प्रश्नों का उत्तर भी मिलता है, आशीर्वाद मिलता है। केवल 'पूजा में भक्ति - भावना' होनी चाहिए, 'वासना' नहीं रखनी चाहिए।

भागवत धर्म
का
प्राचीन इतिहास

भागवत धर्म
(सनातन हिन्दू धर्म)
पर
विस्तृत रूप में प्रकाश डालनेवाली
शोध-पूर्ण उपयोगी पुस्तक मू० १० रु०
मूल बँगला-लेखक
ब्रह्मीभूत स्वामी विद्यारण्य जी
अनुवादक
श्री रमादत्त शुक्ल, एम० ए०

# शक्ति-उपासना की प्रधानता

• श्री राजेन्द्रलाल दास विशारद, सुपौल (बिहार)

भारतीय ऋषियों द्वारा प्रणीत अपार आध्यात्मिक साहित्य—वेद-शास्त्र, तन्त्र-शास्त्र, पुराणादि में हर एक विषय के एक-एक अधिष्ठाता देवी-देवता निरूपित हैं। यथा--सृष्टि के देवता ब्रह्मा, पालन के विष्णु, संहार और कल्याण के शिव, मेघ के इन्द्र, जल के वरुण, अग्नि के विष्णु, सिद्धि के गणेश आदि देवता तथा विद्या की देवी सरस्वती, धन की लक्ष्मी, सामर्थ्य की शक्ति आदि।

वैष्णवों का मत है कि भगवान् विष्णुनारायण देवताओं में सबसे श्रेष्ठ हैं। वे ही सत्य सनातन हैं। वे हो हैं ब्रह्म, निराकार और साकार, किन्तु वास्तव में परब्रह्म ही साकार से होते हैं भगवान् विष्णु आदि रूपों में। उन्हीं से सृष्टि के उत्पादन, पालन, प्रलय आदि होते हैं। पर-ब्रह्म से परे कोई नहीं और कुछ नहीं। इन वैष्णवों में कोई नारायण के उपासक, कोई राम के उपासक, कोई कृष्ण के उपासक आदि हैं एवं इन उपासनाओं में अनेक प्रकार के मत-सम्प्रदाय आदि हैं।

शैवों का मत है कि शिव जी संहार करनेवाले, कल्याण करनेवाले और सबसे बड़े दानी हैं। कोई निराकार ही को मानते हैं। जैसे कबीर-पन्थी आदि। गोस्वामी तुलसीदास जी ने यद्यपि सब देवी-देवताओं को माना है, सबकी वन्दना की है, किन्तु राम ही को सब कुछ माना है।

अब देखना है कि हिन्दुओं में इतने देवी-देवता हैं बल्कि हिन्दू में ही नहीं, अन्य देश-वासियों एवं नाना धर्मावलम्बियों में भी ईश्वर या कितने ही देवी-देवता हैं और सभी ने अपने-अपने देवी-देवताओं को प्रबल माना है। क्यों ? केवल इसीलिए कि इनमें शक्ति है और विशेष शक्ति है। केवल शक्ति ही के प्रभाव से ये लोग बड़े या पूज्य हैं। पर-ब्रह्म सबसे परे हैं, किन्तु उनमें भी तो शक्ति है, इसीलिए पर-ब्रह्म हैं।

यह तो हुई देवताओं की बात ! अब साधारण दृष्टि से मनुष्यों में या सांसारिक वस्तु-विषय में देखा जाय, तो सभी का अस्तित्व शक्ति से ही है। साधारण दृष्टि-कोण से देखें--आपके शरीर में यदि शक्ति है, तो अङ्गों का सञ्चालन ठीक-ठीक होता है। यदि शक्ति न रहे, तो सञ्चालन ही न हो। मनुष्य में, अन्य जीवों में, पदार्थों में, जड़-चेतन में, सभी विषयों में--जिसमें जितनी शक्ति है, वह उतना ही शक्ति-शाली कहा जाता है। यदि कोई मनुष्य--जीव-पदार्थ-विषय कमजोर रहता है, तो कहा जाता है कि इसमें कम शक्ति है या इसमें शक्ति नहीं है, शक्ति - हीन है। उसे कोई यह कहाँ कहता है कि यह ब्रह्म-हीन है, राम-हीन है, कृष्ण-हीन है, शिव-हीन है आदि ?

कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि शक्ति पर ही अवलम्बित है, शक्ति ही द्वारा चलायमान है। सृष्टि ही नहीं, बल्कि जिन्हें हम इस सृष्टि से परे मानते हैं—वे देवी-देवता आदि भी शक्ति पर ही अवलम्बित हैं। शक्ति ही के अधीनस्थ सब हैं।

'देवी-भागवत', स्कन्ध १, अध्याय ४ में लिखा है : एक बार ब्रह्मा जी ने सम्पूर्ण जगत् के पिता श्री विष्णु को किसी देवता का ध्यान करते हुए देखकर पूछा—'हे जगन्नाथ ! भूत-भविष्य-वर्तमान के प्रभु आप तो सबसे बड़े हैं। आपकी नाभि से कमल उत्पन्न होता है और उससे मेरा जन्म है। हम दोनों ही संसार को बनाते हैं, तो आपसे अधिक कौन-सा देवता है, जिसका आप ध्यान करते हैं ?'

श्री विष्णु ने उत्तर दिया--'यद्यपि सर्व-जन तुम्हें सृष्टि-कर्त्ता, हमें पालन-कर्त्ता और शिव को संहार-कर्त्ता जानते हैं, तथापि जो वेद-पारग लोग हैं, वे तर्कणा करते हैं कि ये तीनों 'शक्ति' के आश्रय में हैं और यह सच है कि 'राजसी शक्ति' उस भगवती की तुममें, 'सात्विकी' हममें और 'तामसी' रुद्र में है। उनके बिना तुम, हम और शङ्कर अपने-अपने काम नहीं कर सकते। हम शेष-शय्या पर सोते हैं, 'योग निद्रा-शक्ति' के वशीभूत रहते हैं। इससे हम पर-तन्त्र हैं। जब उस भगवती की इच्छा होती है, तभी हम उठते हैं। कभी लक्ष्मी के सङ्ग विहरते हैं, कभी दैत्यों के सङ्ग युद्ध करते हैं, कच्छप, मत्स्य, शूकर, सिंह, वामनादि रूप युग-युग में धरते हैं। भला किसी को तिर्य्यग्-योनि का जन्म अच्छा जान पड़ता है ? क्या करें, पराधीनता कठिन होती है। हम स्वतन्त्र होते, तो लक्ष्मी का बिहार छोड़कर क्या मत्स्यादि-योनि में जन्म लेते और शय्या को छोड़कर गरुड़ पर चढ़ कर युद्ध करते ? इससे स्पष्ट है कि हम शक्त्यधीन हैं और उसी की तपस्या करते हैं।'

ब्रह्म-वादियों का कहना है-- **'एको ब्रह्म, द्वितीयो नास्ति'**। जब ब्रह्म एक है, तो यह शक्ति--आद्य-शक्ति माया-बीज होकर कहाँ से टपक पड़ी ? 'देवी-भागवत' में भगवती का वचन है--ब्रह्म एक है। जो ब्रह्म है, वही मैं हूँ। सृष्टि-उत्पादन की इच्छा होते ही हम दो हो जाते हैं--१ ब्रह्म और २ शक्ति। ब्रह्म ही शेष-शायी नारायण, विष्णु, शिव, ब्रह्मा आदि होता है। सृष्टि-उत्पादनार्थ, रक्षार्थ, विनाशार्थ मत्स्य, कच्छप, वराहादि नाना रूप धारण करता है। सृष्टि के धर्म की रक्षार्थ नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि आदि नाना अवतार धारण कर नर-लीला भी करता है।

'गीता', अध्याय ४ में भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं : 'हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ता है, तब-तब मैं जन्म लेता हूँ। साधुओं की अच्छी प्रकार से रक्षा तथा दुष्टों का नाश करने के लिए युग-युग में धर्म की स्थापना के लिए ही मैं जन्म लेता हूँ।'

दूसरी ओर **परा-शक्ति** अपरा-शक्ति, तेज, माया, विद्या, अविद्या, गुण, सत्त्व, तम, गायत्री, सावित्री आदि रूपों में प्रख्यात है। सृष्टि के सञ्चालन के लिए सृष्टि को **'शक्ति'** प्रदान करने के लिए वह नाना रूप धारण करती है और दुष्ट दानवों के संहार के लिए अवतार लेती है। 'दुर्गा-सप्तशती', अध्याय ११ में देवी का वचन है :

'जब-जब संसार में बाधा होगी, दानवों का उत्थान होगा, तब-तब मैं अवतार धारण कर शत्रुओं का नाश करूँगी।'

जिस प्रकार भगवान् के संज्ञा-गुणों के लिए 'नेति नेति' कहा गया है, उसी प्रकार भगवती शक्ति के लिए भी 'नेति नेति' ही है। उनके असंख्य अपरम्पार संज्ञा गुण हैं। भगवान् विष्णु के दश प्रधान अवतारों के समान ही भगवती के भी दश अवतार प्रसिद्ध हैं, जिन्हें **'दश महा-विद्या'** कहते हैं--१ काली, २ तारा, ३ षोडशी, ४ छिन्नमस्ता, ५ धूमावती, ६ बगला, ७ मातङ्गी, ८ भुवनेश्वरी, ९ कमला और १० भैरवी।

पर-ब्रह्म नारायण भगवान् का अवतार जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ जाता है, तभी धर्म की स्थापना के लिए ही होता है, किन्तु **'भगवती शक्ति'** का अवतार जब-जब दुष्ट दानवों की बाधा होती है, केवल तभी होता है।

**'भगवती शक्ति'** के अवतार के अनेक कारण हैं और अनेक प्रकार हैं। 'दुर्गा-सप्तशती', अध्याय २ में और 'देवी-भागवत', स्कन्ध ५, अध्याय २ से १९ तक में देवताओं के तेज से **'शक्ति'** के प्रादुर्भाव का

एक ज्वलन्त चित्र दिया है। रम्भ का पुत्र महिषासुर नामक एक असुर राजा हुआ। उसने सब देवताओं को युद्ध में परास्त कर सबका अधिकार छीन लिया। सब देवता मिलकर ब्रह्मा के पास, उनके साथ शिव के पास और फिर वे सभी भगवान् विष्णु की शरण में गए। श्री विष्णु के विचार-विमर्श के फल-स्वरूप सभी के शरीरों से तेज निकला और उन सभी का तेज एक तेज-राशि बन गई। वही तेज-राशि एक दिव्य स्त्री के रूप में बदल गई। उसी स्त्री-रूपा **शक्ति** भगवती दुर्गा ने घोर युद्ध कर उस असुर महिषासुर को उसके सेनानी और सेना के साथ मार डाला और देवताओं का त्राण किया।

'देवी-भागवत', स्कन्ध १२, अध्याय ८ में बताया है कि पूर्व-काल में महोद्धत नामक एक दैत्य-राज थे। उन्होंने १०० वर्ष तक देवताओं से महा - युद्ध किया। **'परा-शक्ति'** की कृपा से देवताओं से दैत्य हार गये। देव-गण हर्षित हो अहङ्कार-वश अपने-अपने पराक्रम का वर्णन करने लगे--

**'भला, हम लोग देवता हैं, सृष्टि का उत्पादन-पालन-संहार करने में समर्थ हैं। हम लोगों से वह नीच दैत्य क्या जीत सकता था!'** उन्हें परा-शक्ति के प्रभाव की कुछ भी कल्पना न हुई, किन्तु जगदम्बा की कृपा हुई। उसी समय कोटि-सूर्य-वत् प्रकाशमान, कोटि-चन्द्र - समान शीतल और कोटि - विद्युत् के समान दीप्ति-युक्त एक तेज-राशि प्रकट हुई। देवता उसे देख परम विस्मय को प्राप्त हुए। देवताओं के राजा इन्द्र ने अग्नि को उसका परिचय लेने को भेजा। अग्नि से तेज ने पूछा--**'तुम कौन हो?'** अग्नि ने अहङ्कार-पूर्वक कहा--**'मैं अग्नि हूँ। क्षण भर में संसार को भस्म कर सकता हूँ।'** तेज - राशि ने एक तृण फैला दिया। कहा—**'इसे जलाओ।'** अग्नि उसे न जला सके। लज्जित हो वापस आए। पवन गए, पवन ने अहङ्कार-पूर्वक कहा—**'मैं पवन हूँ। मेरी शक्ति से सब चलते - फिरते हैं। जब हम निकल जाते हैं, तब कोई कुछ नहीं कर सकता, न चल सकता है।'** तेज-राशि ने कहा--**'एक तृण है, इसे चलाओ।'** वायु उड़ाने लगे, पर तृण अपने स्थान से विचलित भी न हो सका। लज्जित होकर वापस चले गए। तब अहङ्कार-पूर्ण इन्द्र स्वयं उस तेज-राशि के निकट गए, किन्तु तेज-राशि कहीं चली गई।

इन्द्र ने सोचा—'भला, उन लोगों से वार्ता भी हुई, मुझे तो दर्शन भी न हो सका!' लज्जित हो, अपमान के डर से देह - त्याग करना चाहा। तब आकाश - वाणी हुई--**'माया-बीज जपो, उसी से सुखी होओगे।'** सहस्राक्ष इन्द्र तप करने लगे। अकस्मात् चैत्र मास शुक्ला नवमी को वह तेज-राशि उसी स्थान पर प्रकट हुई। देव-राज ने गद्गद होकर दण्ड - प्रणाम किया। स्तुति कर पूछा--**'यह तेज - राशि क्या है?'** भगवती बोलीं--**'यह मेरा ब्रह्म - रूप है, जो सब कारणों का कारण है, जिसे सब वेद मानते हैं। सब वेदों में 'ॐ' एकाक्षर ब्रह्म कहा जाता है और 'ह्रीं' भी एकाक्षर ब्रह्म है। ये दोनों बीज - मन्त्र मेरे मुख्य हैं, जिससे मैं 'माया' और 'ब्रह्म' दो भागों से युक्त होकर सकल संसार को बनाती हूँ। मैं जगत् को बनाकर उसके अन्तः-करण में प्रवेश कर जाती हूँ और जीव को शुभाशुभ कर्म करने में प्रेरित करती हूँ। मुझसे युक्त होकर पवन बहते, सूर्य तपते, अग्नि तारते, मृत्यु मारते हैं। मैं ही सबको कठपुतली की तरह नचाती हूँ। तुम सब अहङ्कार को छोड़कर मेरी शरण को प्राप्त होओ।'**

यही है शक्ति। यही देवी विष्णु-माया, चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, परा, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शक्ति, कान्ति, लक्ष्मी, धृति, वृत्ति, श्रुति, स्मृति, दया, तुष्टि, पुष्टि, माता आदि रूपों से सब भूतों में स्थित है। यही शक्ति अक्षरों की मात्रा--अर्ध-मात्रा है। प्रणव 'ॐ' का चन्द्र-विन्दु ही उच्चारण-शक्ति है। इतना ही नहीं, ब्रह्म-रूप 'ॐ' ही शक्ति है। 'देवी - भागवत', स्कन्ध ६, अध्याय ४४ में भगवान् नारायण की 'स्वधा-स्तुति' देखें—

**ॐ स्वस्ति च नमस्स्वाहा, स्वधा त्वं दक्षिणा तथा । निरूपिताश्चतुर्वेदाः प्रशस्ताः कर्मिणां पुनः ।।**

अर्थात् तुम ॐ, स्वस्ति, नमः, स्वाहा, स्वधा और दक्षिणा हो, जो चारों वेदों में कर्म करने-वालों के लिए प्रशस्त-रूप में निरूपित हैं ।

**'शक्ति'** की कृपा बिना कोई कुछ नहीं कर सकता । कठिन कार्यों में उसकी ही शरण लेनी पड़ती है । कठिन-से-कठिन, गूढ़-से-गूढ़, गुरु-से-गुरु कार्य **'शक्ति'** की शरण में जाने से सिद्ध हो सकता है । असम्भव भी सम्भव हो सकता है । देवता और मनुष्य आदि को कठिन महा - विपद् के समय **'शक्ति'** की ही शरण में जाने से त्राण मिला है. मिलता है एवं मिलेगा ।

पर-ब्रह्म के अवतार भगवान् श्री राम को रावण को मारने के लिए इन्हीं **भगवती शक्ति** की शरण लेनी पडी । महा - बली रावण से युद्ध करते - करते श्रीराम घबरा गए । नारद ने आकर उपदेश किया कि **'श्रीदुर्गा का नवरात्र में अर्चन करें ।'** भगवान् श्रीराम ने नवरात्र - अर्चन किया । नित्य एक लक्ष नील-कमल भगवती को हवन करते थे । पवन-सुत हनुमान नित्य मान - सरोवर से एक लक्ष नील-कमल ले आते । रावण को मालूम हुआ । पूर्णाहुति के समय एक कमल चुरवा लिया । भगवान् ने सोचा--'लोग मुझे कमल-नयन कहते हैं ।' अतः उन्होंने अपनी एक आँख ही हवन करनी चाही । भग-वती ने प्रसन्न होकर उन्हें साक्षात् होकर वरदान दिया और तब वे रावण को मार सके । यह है शक्ति की शरण और कृपा का फल !

हिन्दू-धर्म में अनेक देवी-देवताओं के उपासक हैं । या हिन्दू - धर्म में ही नहीं, हर एक धर्म में अपने - अपने देवता के उपासक हैं । हिन्दू - धर्म में वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर आदि उपासक प्रधान हैं, किन्तु इन सभी को सोचना चाहिए कि **'शक्ति - उपासना'** को ही श्रेय है क्योंकि सब **'शक्ति'** के ही अधीन हैं ।

जो **'शक्ति'** की उपासना नहीं करते, वे अपने को कर्त्तव्य-च्युत कर रहे हैं । प्रधानतः हिन्दू-धर्म के अनुयायियों में द्विज--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य--जिनका द्विजोचित कर्म होता है एवं जो यज्ञोपवीत धारण करते हैं, वे सभी शाक्त हैं—**'सर्वे द्विजाः शाक्ताः'** । उनको 'शक्ति - उपासना' करनी ही चाहिए । द्विज-कर्म होते समय 'गायत्री' तथा **'शक्ति-मन्त्र'** द्वारा ही संस्कार होता है । यज्ञोपवीत 'गायत्री - मन्त्र' द्वारा ही अभिमन्त्रित होता है । सन्ध्या-काल में 'शक्ति' की ही उपासना होती है ।

वेदों में 'गायत्री' ही की उपासना है, जिसके बिना ब्राह्मण को अधो-गति होती है । गायत्री मात्र के जपने से ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है । गायत्री मात्र से ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व या ब्रह्मत्व है । इस प्रकार द्विज का इष्ट तो **'शक्ति'** ही हुई और है ।

द्विज ही नहीं, वरन् सबके शक्त्यधीन होने के कारण **'शक्ति-उपासना'** ही श्रेष्ठ है ।

पूजा-अर्चना वैसे तो भक्ति से ही होती है, किन्तु इसके लिए तन्त्र-शास्त्रोक्त 'साधना' ही प्रधान एवं प्रशस्त है । तन्त्र - शास्त्र में **'शक्ति'** का विशेष वर्णन है । तन्त्र - मन्त्र में बड़ी शक्ति है । एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि अन्य उपासनाओं में केवल 'योग' ही है, किन्तु इस **'शक्ति-उपासना'** में तन्त्र-मन्त्र द्वारा 'योग' और 'भोग' दोनों सुलभ हो जाते हैं । यही **'शक्ति-उपासना'** की विलक्षणता है ।

# शक्ति-कृपा का प्रत्यक्ष अनुभव

साधारण जनता का विश्वास है कि भगवच्छक्ति की कृपा प्राप्त होने से मनुष्य को ऐहिक परम ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इसीलिए यदि कोई दरिद्र व्यक्ति कहता है कि वह माता का कृपा-पात्र है, तो लोग उसे दाम्भिक समझने लगते हैं, परन्तु विचार-पूर्वक देखा जाय, तो धन-ऐश्वर्य की अधिकता सात्त्विक भाव की घोर विरोधिनी है। धनी लोगों में सात्त्विक भावापन्न पुरुष बहुत कम होते हैं। धन ही अहङ्कार का कारण है और अहङ्कारी से ईश्वर-भक्ति कोसों दूर रहती है। जगदम्बा जिस पर अनुग्रह करना चाहती है, उसे दरिद्रता तथा विपत्ति देकर ही उसकी दृढ़ता की परीक्षा करती है।

उपरिलिखित बातों का प्रत्यक्ष अनुभव मुझे अनेक बार हो चुका है। मेरा जन्म काशी के एक प्रख्यात विप्र-कुल में हुआ। सुना है कि मेरे वृद्ध प्रपितामह के समय में हम लोग बहुत सम्पन्न थे। घर में कोठी का कारबार चलता था, अगणित सम्पत्ति थी, साक्षात् महा-लक्ष्मी के वरदान से यह सब ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था। घर में कुल-देवता के पूजन - अर्चन की बड़ी धूम रहती थी। वासन्तीय तथा शारदीय नवरात्रों में बड़ी धूम-धाम से भगवती की स्थापना, पूजा तथा विपुल दान-धर्म होता था। मेरे वृद्ध प्रपितामह को स्वप्नों में भगवती दर्शन देकर भावी कार्यों में शुभाशुभ की सूचना देती थीं। अन्त समय में उन्होंने अपने पुत्र तथा पौत्र को समीप बुलाकर कहा—'**बेटा! मेरा समय आ गया, मैं तो चला, परन्तु इतना स्मरण रखना कि यह सारा ऐश्वर्य भगवती की कृपा से प्राप्त हुआ है। यदि उसकी कृपा बनी रही, तो ऐश्वर्य भी स्थिर रहेगा, अन्यथा नहीं। भगवती की कृपा बनी रहे, इसके लिए तुम लोगों को विशेष जपानुष्ठान की आवश्यकता नहीं है, वह सब मैंने पर्याप्त मात्रा में कर रखा है। तुम लोग केवल भगवती की नित्य-नैमित्तिक सेवा स्वयं करना और सदाचार से रहना, परन्तु मैं देख रहा हूँ, तुम लोगों से इतना भी न होगा। यह सब ऐश्वर्य चला जायगा। यदि दुर्भाग्य से ऐसा समय आ जाय, तो कुल-देवता के निकट बैठकर चालीस दिन तक मन्त्र का पुरश्चरण करने से भगवती का आदेश प्राप्त होगा, तदनुसार चलना।**'

इसके बाद पूज्य प्रपितामह जी समाधिस्थ हो गए। उनके पुत्र ने उनके उपदेशानुसार ही वर्तन किया और वे आजन्म सुखी रहे। उनके बाद मेरे पितामह बड़े विलासी हुए। उन्होंने कुल-देवता की पूजा का भार कुल-पुरोहित को सौंप दिया और आप सुख-भोग में निमग्न हो गए। धीरे-धीरे सम्पत्ति क्षीण होने लगी।

वृद्ध कुल-पुरोहित भी मर गए। उनके पुत्र पुजारी नियत हुए। ये भी युवक थे, चरित्र भी अच्छा नहीं था। कोई देखने-पूछनेवाला न होने के कारण इन्होंने देवी के अलङ्कार तथा देवी का सुवर्ण-सिंहासन बेंच दिया। फलतः देवी का रोष होने लगा।

मेरी पितामही बड़ी साध्वी थीं। उन्हें स्वप्न में देवी ने दर्शन देकर कहा—'**यहाँ मेरा बहुत अनादर हो रहा है, अब मैं जाती हूँ।**' यह सुनकर पितामही ने भगवती की बहुत प्रार्थना की और इस कुल को न छोड़ने के लिए बहुत अनुरोध किया। तब माता ने कहा : '**तुम्हारे एक पुत्र होगा। वह अत्यन्त सात्त्विक भावापन्न होगा, वह और उसके पुत्र-पौत्रादि तीन पुरुष मेरी उपासना करेंगे, तब वह पाप कटेगा और इन तीन पुरुषों के काल में इस कुल की पुनः उत्तरोत्तर उन्नति होती रहेगी। इसके बाद चतुर्थ पुरुष**

**से सप्तम पुरुष तक उपासना - प्रकर्ष के अनुसार विद्या तथा श्री पूर्ण मात्रा** में निवास करेगी,

उत्तरोत्तर ह्रास होते हुए यहाँ तक नौबत आई कि मेरी पितामही के मृत्यु के अनन्तर बारह वर्ष के पुत्र (मेरे पिता) को साथ लेकर मेरे पितामह किराए के मकान में रहने लगे, हँड़िया में रसोई पकने लगी। मेरे पितामह को अपने वार्धक्य में अपने कर्मों का पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने मेरे पिता को वे सब पुरानी बातें तथा पितामही के स्वप्न का वृत्तान्त सुनाकर भगवती की आराधना करने का उपदेश दिया और कहा कि 'तुम सत्पुत्र हो, पिता के पापों का प्रायश्चित्त कर कुल-देवता को फिर से प्रसन्न करो। पूर्व-पुरुषों के पुण्य का भाण्डार अक्षय है। उनके कुल की फिर से उन्नति होगी।

मेरे पिता जी ने अपने बाल्य-काल ही से भगवती की आराधना में मन लगाया। निर्वाह के लिए एक कोठी में पन्द्रह रुपए मासिक पर मुनीमी करना भी आरम्भ किया। समय-समय पर उन्हें भगवती के दृष्टान्त होते थे। उनके दस पुत्रों के काल-कबलित होने के बाद मेरा जन्म हुआ। मेरे जन्म की कथा भी विचित्र है। पिता जी का जीवन-काल साधारण ही व्यतीत हुआ, परन्तु सात्त्विक सदाचारी तथा अजात शत्रु होने के कारण उन्हें कभी कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ। उनके अन्त समय में मैं आठ वर्ष का बालक था। तुरन्त ही मेरा उपनयन हुआ था। पिता जी ने अपने प्राणोत्क्रमण के एक दिन पूर्व मुझे अपने पास बुलाकर अपने कुल की सब प्राचीन कथा कह सुनाई और मुझे कुल-देवता के सामने ले जाकर भगवती की तरफ अँगुली उठाते हुए कहा : 'देखो ! यह हम लोगों की माँ है। इसकी पूजा-अर्चा में कभी आलस्य न करना। जो कुछ चाहो, इससे ही माँगना। यह बड़ी दयालु है।'

उक्त उपदेश देकर उन्होंने क्षण मात्र मेरे सिर पर अपना दक्षिण हस्त रखते हुए आँखें मूँद कर भगवती से कुछ प्रार्थना की। मुझे आज भी पिता जी की वे बातें सुनाई पड़ रही हैं और वह प्रसङ्ग मानों नेत्रों के सामने दिखाई पड़ रहा है। पिता जी के देहान्त के बाद बाल्य - काल में कई बार का मेरा यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि जिन छोटी-मोटी बातों के लिए मैं माता से प्रार्थना करता था, प्रायः वे बातें पूर्ण हो जाती थीं। वास्तव में पिता जी के देहान्त के बाद सर्वथा आश्रय-हीन हम लोगों का निर्वाह होकर आज इस वर्तमान स्थिति को प्राप्त करना केवल भगवती की कृपा का ही फल है, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है। मध्य-वर्ती अनेक चमत्कारी घटनाओं को छोड़कर मैं कुछ विशेष घटनाओं का वर्णन करता हूँ—

(१) उन दिनों मैं मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण कर चुका था। मेरा विवाह भी हो गया था। गृहस्थी का निर्वाह बड़े कष्ट से होता था। नौकरी करने के लिए घर के लोग तथा इतर सम्बन्धी भी आग्रह करने लगे। उन्हीं दिनों स्थानीय विद्यालय में एक पण्डित का १५ रु० मासिक का पद रिक्त था। मैंने उस पद के लिए प्रार्थना-पत्र भेजकर घर में कुल-देवता के निकट अनुष्ठान आरम्भ कर दिया। मुझे विश्वास था कि कुल-देवता की कृपा से मुझे यह पद अवश्य मिलेगा, परन्तु वह पद मुझे नहीं मिला, दूसरे की नियुक्ति हो गई। यह देखकर मुझे बड़ा क्रोध आया और कुल-देवता से बहुत उपालम्भ किया। उस दिन बिना खाए-पिए सो रहा। स्वप्न में मैंने प्रत्यक्ष देखा कि एक तेजस्विनी सधवा वृद्धा स्त्री मेरे सिरहाने बैठ कर मेरे सिर पर हाथ फेरती हुई कह रही है—'बेटा ! तू क्यों दुःख कर रहा है ? अरे, यह नौकरी तेरे उपयुक्त नहीं है। तुझे तो मैं उच्च पद पर देखना चाहती हूँ। घबराओ नहीं, १५) मासिक से अधिक तुम यों ही पा जाओगे।'

प्रातः-काल उठने पर चित्त प्रसन्न था। ज्यों ही पाठशाला पहुँचा, मेरे अध्यापक से मुझे विदित हुआ कि आज से कुछ विशेष विषयों के अध्यापन के लिए मुझे डेढ़ रुपए मासिक छात्र-वृत्ति दी गई है। तब से आज तक मैंने कभी किसी विषय के लिए कोई प्रार्थना-पत्र नहीं लिखा। भगवती की कृपा से आज प्रर्याप्त मासिक पा रहा हूँ।

(२) श्रीमहा-लक्ष्मी-दर्शन की अत्यन्त लालसा से मैं दक्षिण काशी, करवीर-क्षेत्र (कोल्हापुर में) गया था। वहाँ रात के ९ बजे मैं पहुँचा। उस दिन शुक्रवार था। जाते ही तुरन्त स्नान कर मन्दिर में पहुँचा, तो वहाँ शयन-आरती होकर फाटक बन्द हो रहा था। मुझे बड़ी निराशा हुई। डेरे पर वापस लौट कर बिना खाए-पिए ही सो गया। स्वप्न में मैंने एक देवी-मूर्ति देखी। उसकी यथा-विधि पूजा की तथा सप्तशती-पाठ भी किया। प्रातः जागृत होने पर स्नानादि से निवृत्त होने पर जब मैं महालक्ष्मी-मन्दिर में पहुँचा, तो देखा कि स्वप्न में जो मूर्ति देखी थी—वही मूर्ति, वही गुलाब की माला, जो मैंने स्वप्न में चढ़ाई थी, श्री महालक्ष्मी जी के कण्ठ में है! यह देखकर मैं गद्गद हो गया।

(३) विन्ध्य-क्षेत्र में उन दिनों मैं अनुष्ठान कर रहा था। वहाँ रात में १२ बजे के बाद प्रायः कोई भी मन्दिर में नहीं रहता। एक दिन मैं रात्रि में वहाँ बैठकर पाठ कर रहा था। बारह बजे के लगभग मन्दिर बन्द कर पण्डे लोग चले गए और मुझे भी शीघ्र ही जाने के लिए कहते गए। मैं भी लगभग एक बजे पाठ समाप्त कर भगवती की परिक्रमा कर धर्मशाला जाने के लिए चला। ज्यों ही मन्दिर की सीढ़ी उतरने लगा, सम्मुख गली से घण्टा-नाद, धूप की सुगन्ध और आती हुई किसी की पग-ध्वनि सुनने में आई। मैं रुक गया। क्षण भर में देखा, सामने से एक काली आकृति, जिसके शिरोभाग में केवल एक ज्वाला थी, एक हाथ में घण्टा तथा दूसरे में खप्पर, जिससे धूप की सुगन्धि आ रही थी—खड़ाऊँ खटखटाते हुए सामने सीढ़ी चढ़कर मन्दिर में घुसी।

देखकर कुछ देर तक के लिए तो मैं जड़ - वत् हो गया। पीछे शरीर में रोमाञ्च उत्पन्न हुआ। कुछ भय भी होने लगा। शीघ्र ही धर्म-शाला में वापस आया। पीछे जाँच करने पर विदित हुआ कि वह माता विन्ध्य-वासिनी की एक सेविका शक्ति है : कभी-कभी ही किसी-किसी भाग्यवान् साधक को उसका दर्शन होता है।

और भी कुछ अनुभव हैं, परन्तु उन्हें प्रकट करना श्रेयस्कर न होगा क्योंकि ऐसा ही आदेश हो रहा है। अतः लाचारी है। तथापि आज तक के अपने अनुभवों के आधार पर मैं इतना दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि मातृ-भाव की उपासना का ही यह विशेष प्रभाव है कि प्रमाद होने पर भी क्षमा मिलती है।

बाल्य-काल से ही मैं पितृ-हीन, दरिद्र और अनाथ था। कुल-गौरव के कारण प्रकट रूप से अन्न-क्षेत्र और सदावर्तों की सहायता भी नहीं ले सकता था। अनुचित मार्ग में ले जानेवाले साथी बहुत मिलते थे। दो-तीन बार तो मोह-वश अथवा सङ्ग-दोष से नरक-द्वार के सोपान तक पहुँच भी गया था, किन्तु उसी जगन्माता ने उसी क्षण चित्त में ऐसा झटका दिया कि एकदम वहाँ से विमुख हो गया। आज इस उन्नत स्थिति पर पहुँचा हूँ—यह केवल जगन्माता का अनुग्रह ही है। अब उससे इतनी ही प्रार्थना है कि इसी तरह अन्त तक सुधार दे। बोलो श्री जगन्माता की जय!

—एक भक्त

# माता महा-लक्ष्मी का अनुभूत मन्त्र

• तन्त्राचार्य डा० विभूतिनाथ 'मधुप' द्विवेदी

त्रिगुणात्मक सृष्टि की संरचना में माता महा-काली, महा-लक्ष्मी और महा - सरस्वती का पूर्ण प्राधान्य है। इनके बिना सृष्टि सम्भव ही नहीं थी। ये तीनों महा-विद्याएँ क्रमशः तम, रज और सत् की पावन प्रतिमाएँ हैं। जन्म-जन्मान्तर से लगे हुए संस्कारों के कारण ही साधक सात्त्विक, राजस या तामस साधना करने के लिए प्रयत्न करते हैं। साधक में सतोगुण की प्रबलता होने पर वह सात्त्विक देवों की उपासना करता है। रजोगुण से राजसी तथा तमोगुण से तामसी देवी - देवताओं की उपासना में उसकी प्रवृत्ति होती है।

माता महा-लक्ष्मी रजो - गुण - प्रधान महा - विद्या हैं। अतः अधिकांश साधक इनकी उपासना करना चाहते हैं। केवल मनुष्य ही नहीं, यक्ष, गन्धर्व, नाग, किन्नर, सुर - असुर—सभी इन्हीं माँ की उपासना कर समस्त ऐश्वर्यों के अधिपति बने हैं। इनकी उपासना-पद्धति का ज्ञान साधक सुयोग्य गुरु से प्राप्त करता है। माता महा-लक्ष्मी की साधना प्रायः अर्द्ध-रात्रि में, पश्चिम दिशा की ओर मुख कर, कुशासन के ऊपर रक्त-कम्बल तथा उसके ऊपर पीत रेशमी वस्त्र बिछाकर, उस पर बैठकर करनी चाहिए। पहले आचमन-पूर्वक आसन-शुद्धि-मन्त्र द्वारा आसन शुद्ध करे।

अब अपने सामने पवित्र भूमि पर अक्षत बिछाकर, कार्य-सिद्धि हेतु, कामना के अनुसार स्वर्ण, रजत (चाँदी) अथवा ताम्र का कलश उन अक्षतों के ऊपर स्थापित करे। उसमें जल भर कर कलश में मोती डाले। मोती के अभाव में कमल-गट्टा डालकर पूजन करे। ताम्र के दीपक की स्थापना कर, उसमें पीले रङ्ग की विषम संख्या में बत्तियाँ डाले तथा गो-घृत भर कर प्रज्वलित करे। शुद्ध गो-घृत के अभाव में शुद्ध तिल-तैल डाले। किसी लक्ष्मी-स्तोत्र का पाठ कर ध्यान करे। दोनों हाथों की अँगुलियों और अंगुष्ठों को मिलाकर खिले हुए कमल की तरह आकार बनाकर पद्म-मुद्रा का प्रदर्शन करे। इससे देवी अधिक प्रसन्न होकर ऐश्वर्य प्रदान करती हैं। पीले रेशमी डोरे से कमल-गट्टा की माला गूँथकर, उसका विधि-वत् पूजन कर, महा-लक्ष्मी मन्त्र का जप करने से शीघ्र सफलता मिलती है। जप की गणना के लिए गोबर में लाख, चन्दन का बुरादा और सिन्दूर मिलाकर गोलियाँ बना ले।

संक्षेप में उक्त विधि लिखी गई है। 'चामुण्डा तन्त्र संस्थान', दतिया (मध्य प्रदेश) के अनेक साधक इसी विधि से साधना कर लाभ उठा रहे हैं। निम्न मन्त्र मेरे पूर्वजों को किन्हीं ओझा ने प्रदान किया था। 'चण्डी' के पाठकों के लाभार्थ उसे यहाँ पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है—

## महा-लक्ष्मी का अनुभूत मन्त्र

प्रार्थना : ॐ महा-लक्ष्मी नमस्तुभ्यं, गृह-वासो करोसि त्वम्।

मन्त्र : ॐ महा-लक्ष्मी श्रीं श्रीं श्रीं काम-वीजाय फट्।

विधान : हस्त नक्षत्र में शुद्ध होकर, अर्द्ध-रात्रि में कमल के फूल पर उक्त मन्त्र पढ़कर उसमें लक्ष्मी जी का आवाहन करे। दूर्वा से दूध के द्वारा उस फूल को सिञ्चित करे। चन्दन, रोली, सिन्दूर से उसका पूजन कर 'प्रसाद' अर्पित करे। तब आरती करे। फिर अर्घ्य देकर कमल-गट्टे की माला से ४१ दिनों तक मन्त्र का ४१ हजार जप करे। भोजन एक बार करे। सत्य ही बोले, झूठ कदापि नहीं। परान्न का भक्षण न करे। भूमि पर शयन करे। इस प्रकार साधना करने से माता प्रसन्न होकर ऐश्वर्य - दायक साधन प्रदान करेंगी।

( आवरण पृष्ठ २ का शेषांश )

मातृ - विहीन - सो, दीन - अधीन-सो, देखि लियो दुख सङ्कट घेरी ।
भीत भयो शिशु रोवत है, करुणा - मयि माँ ! करुणा कर दे री ।।

शिशु को नित काम इहै जननी, नित ऊधम सों करै दुःख की ढेरी ।
औ' जननी तव काज इहै, नित दौरि बचावत सङ्कट हेरी ।।
हौं निज काम तज्यो न अजौं, निज काज तज्यो कस तू न कहे री ।
भीत भयो शिशु रोवत है, करुणा - मयि माँ ! करुणा कर दे, री ।।

आपुने हाथन गेरि लियो, निज पाँउन पाथर आँखिन हेरो ।
तेरे भरोसे ही जूझि परचो, बहु सङ्कट सों भइ दृष्टि न तेरी ।।
काहे हँसे, नहीं दौरि सँभारि ले, जात दसा बिगरी अब मेरी ।
भीत भयो शिशु रोवत है, करुणा - मयि माँ ! करुणा कर दे, री ।।

माँ, उर की सब जानत तू, केहि कारण और विलम्ब लगावे ।
कौन विनोद, दया - मयि ! यों केहि कारण यों शिशु को तरसावे ।।
आश्रित को न विलोकति तू, तब और बता केहि के ढिग जावे ।
आपुनो बालक रोवत देखि के, कैसे नहीं तव जी अकुलावे ।।

जो पे कियो अपराध घनो शिशु, दण्ड दिए बिनु चैन न आवे ।
तो अपने कर - कोमल सों, केहि हेतु न थप्पड़ ताहि लगावे ।।
बाँधि ले, मारि ले, भूखन मारि ले, तू करि ले सब जो चित चावे ।
हा जननी ! पर त्यागि के यों अपने शिशु को, मत री ! बिसरावे ।।

बालक रूठत देख्यो, सुन्यो, कहुँ देखी नहीं जननी पर रूठी ।
तू जननी, सुत - नेह की मूरति, काहे गही यह रीति अनूठी ।।
रोवत बीति गए निसि - वासर, केतिक पे अजहूँ नहिं तूठी ।
साँचु बता सुत तेरो नहिं, किधौं, तू जग की जननी भई झूठी ।।

कोटिन जन्मन में, जगदम्ब ! कु-सङ्कट कोटि परे अति भारे ।
कौन सो दुःख जो भोग्यो नहीं, तनु धारि अनेकन बार हजारै ।।
है यमलानुज दुःख तो मोर, सो भोगिहौं का करिहौं मन मारे ।
मातु की गोद में बालक पे कलपे, यह योग्य कहाँ लौं तिहारे ।।

रजि० सं० ३२६८१/५० नवम्बर, १८९१ [ रजि० सं० ए० डी० ९६
मुद्रक, प्रकाशक, सम्पादक : श्रीऋतशील शर्मा, एम० ए०


# श्रीकाली-स्तव-मञ्जरी

मूल्य २०-०० रु०

# श्रीश्रीविद्या-स्तव-मञ्जरी

मूल्य २५-०० रु०

# श्रीभुवनेश्वरी-स्तव-मञ्जरी

मूल्य १५-०० रु०

# भगवती दुर्गा के सहस्रनाम

(शिव-तोषिणी टीका सहित)

मूल्य १०-०० रु०

सविधि

# श्रीबाला-खड्ग माला

मूल्य ८-०० रु०